लघु सिद्धान्त कौमुदी में आये हुए वार्त्तिकों का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की

डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धात्री

वन्दिता पाण्डेय

निर्देशक

डा० रामकिशोर शास्त्री

व्याख्याता

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत - विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

1992

आत्म-निवेदन

आदि मानव ने इस वसुन्धरा के स्वर्णिम क्षितिज पर जब नेत्रोन्मीलन किया, तो धरती ने उसे अपनी दुलार भरी गोद में उठा लिया, मृदु समीर ने उसे झुलाया, मधुर-भाषी पक्षियों ने लोरियाँ गायीं, जिनके स्वर में उसने अपना स्वर मिलाया और यहीं से भाषा की परस्पर आदान-प्रदान की श्रृङ्खला का सूत्रपात हुआ । भाषा के इसी ज्ञान-विज्ञान की श्रृङ्खला के शाश्वत सम्बन्ध के परिवेश में आज का विकसित चेतन प्राणी धरती से उठकर चन्द्रलोक तक की भाषा समझने लगा ।

हमारे देश में विभिन्न भाषाओं में विभिन्न वाङ्मय विद्यमान हैं । भारतीय मनीषा सभी वाङ्मय का हृदय से सम्मान करती है । अपनी सामर्थ्यानुसार सभी मानव-जाति के कल्याण के प्रति सचेष्ट है किन्तु स्वदेश की सीमा से बाहर विश्व-बन्धुत्व एवं समूची मानव जाति की जो सेवा, सभी भाषाओं की आदि जननी संस्कृत भाषा ने किया है तद्वत् किसी भाषा ने नहीं । जीव से ब्रह्म बनाने की क्षमता का विकास संस्कृत भाषा में ही विहित है । संस्कृत भाषा के इसी विशिष्ट गुणों के कारण मेरी श्रद्धा इस भाषा के सम्पर्क में आने के कारण प्रगाढ़ हुई । किसी भाषा के साधु एवम् असाधु स्वरूप के नीर-क्षीर विवेक के लिए उस भाषा के व्याकरण का क्रमबद्ध ज्ञान परमावश्यक होता है । संस्कृत के निगूढ़ तत्त्वों को समझने के लिए तो व्याकरणशास्त्र का अध्ययन और भी अपेक्षित है, इसलिए पूर्व कक्षाओं में मेरे श्रद्धेय गुरुजनों के द्वारा पाणिनीय प्रवेशाय लघुसिद्धान्त कौमुदीम्' का जो अङ्कुर मेरे जिज्ञासु मन में फूटा था । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उसी का पल्लवित, पुष्पित एवम् फलित रूप है

मानव जाति विधाता की अनुपम कृति है और भाषा उसके लिए ईश का अमूल्य वरदान है ।मूकं करोति वाचालम् ----- सुभाषित प्रसिद्ध है। शब्दों के समुदाय से वाक्य तदनन्तर भाषा की सृष्टि होती है । व्याकरणशास्त्र भाषा का विवेचन करता है तथा साथ ही भाषा को शुद्ध रूप में बोलना, समझना और लिखना सिखाता है । व्याकरण का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है - "पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र ।" "व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्" अथवा "व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयो नेन अस्मिन् वा तद्व्याकरणम्" ।वि + आङ् + कृ + ल्युट्। । प्रकृति और प्रत्यय के विवेचन द्वारा यह किसी भाषा के टुकड़े-टुकड़े करके उसके ठीक स्वरूप को हमारे सामने दर्शाता है । भर्तृहरि का स्पष्ट उल्लेख है - "साधुत्वज्ञान-विषया सैषा व्याकरण स्मृतिः - ।वाक्यपदीय।" यह शुद्ध और अशुद्ध प्रयोग का ज्ञान कराता है । इस प्रकार किसी भी भाषा के सम्यक् ज्ञान के लिए व्याकरणशास्त्र का ज्ञान परमावश्यक है । करणीय-अकरणीय प्रयोगों का ज्ञान कराने के कारण वह शास्त्र कहा जाता है ।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्याकरण की उपयोगिता का प्रतिपादन बड़े ही गम्भीर शब्दों में किया है । ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भण्डार हमारी वैदिक संहिताओं में व्याकरणशास्त्र की प्रशंसा में अनेक मंत्र विभिन्न स्थलों में बिखरे पड़े हैं । ऋग्वेद के एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में शब्द शास्त्र अर्थात् व्याकरण का 'वृषभ' से रूपक बाँधा गया है जिसके द्वारा व्याकरण ही कामों अर्थात् इच्छाओं/को तुष्टि करने के कारण 'वृषभ' नाम से संकेतित किया गया है । उपर्युक्त 'वृषभ' के चार सींग हैं :- 1. नाम, 2. आख्यात ।क्रिया।, 3. उपसर्ग एवम् 4. निपात । इसके तीन पाद हैं -

वर्तमान, भूत और भविष्य तथा दो सिर हैं सुप् और तिङ्। सप्त विभक्तियाँ - प्रथमा, द्वितीया एवम् तृतीयादि इसके सात हाथ हैं। उर, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बाँधा गया है। इस प्रकार यह महान् देव है, जो मनुष्यों में समाहित है।

वररुचि के अनुसार व्याकरण के अध्ययन के पाँच प्रयोजन अधोलिखित हैं :-

1. रक्षा - व्याकरण के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य वेद की रक्षा है।
2. ऊह - ऊह का अर्थ नये पदों की कल्पना से है।
3. आगम - स्वयं श्रुतिही व्याकरण के अध्ययन के लिये प्रमाणभूत है।
4. लघु - लघुता के लिए भी व्याकरण का पठन-पाठन आवश्यक है।
5. असन्देह - वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न सन्देह का निराकरण व्याकरण ही कर सकता है।

व्याकरण की इसी भूयसी उपयोगिता के कारण प्रस्तुत विषय मेरे शोध-प्रबन्ध का प्रयोजन बना। मुझे शिक्षा के सर्वोच्च सोपान तक पहुँचाने में मेरी ममतामयी जननी श्रीमती चन्द्रमोहनी मिश्रा, प्रवक्त्री राजकीय बालिका इण्टर कालेज, शंकरगढ़, इलाहाबाद, एवम् पूज्य पिता श्री राधेश्याम मिश्र, प्रोफेसर संस्कृत विभाग, रींवा विश्वविद्यालय, का सर्वोपरि योगदान है जिसके लिए किसी भी प्रकार का आभार-प्रदर्शन उस निष्कलुष वात्सल्य एवम् सहज स्नेह के गौरव का अपकर्षक होगा। वस्तुतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मेरी माता एवं पिता के अखण्ड सौभाग्यशाली पुण्यों का ही फल

है । यही नहीं अपनी मातृस्वरूपा सास श्रीमती इसराजी देवी के प्रति भी आभार व्यक्त करना मेरी धृष्टता होगी, जिन्होंने मुझे 'गृहकारज नाना जंजाला' के 'विषम व्यूह' से मुक्त करके अपना चिरस्मरणीय सहयोग, प्यार एवम् आशीर्वाद प्रदान किया है । अन्यथा प्रकृत शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पाना सम्भव न हो पाता ।

'ज्ञानपंथ' की 'अथ से इति' तक की इस 'क्षुरस्यधारा निषिता दुरत्यया' सदृश दुर्गमयात्रा के सफल समापन में गुरुवर्य डॉ० रामकिशोर शास्त्री ने विषय को बोधगम्य बनाने में अभूतपूर्व योगदान दिया है । श्रद्धेय गुरुजी ने विषय-चयन से लेकर शोध-प्रबन्ध की पूर्णाहुति तक मेरा सफल मार्ग-निर्देशन किया, जिसके लिए मैं हृदय से श्रद्धावनत हूँ ।

व्याकरण की दुर्गम वीथियों में भटकने से बचाने का कार्य अभिनव पाणिनि काशी विद्वत्परिषद के अध्यक्ष, भूतपूर्व व्याकरण विभागाध्यक्ष एवम् वेदवेदाङ्ग संकायाध्यक्ष, संस्कृत विश्वभारती एवम् राष्ट्रपति पुरष्कृत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के सम्मानित प्रोफेसर डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठीजी ने किया । जिनसे मैं जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त अनृण नहीं हो सकती ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष एवम् संस्कृत जगत् की आधुनिक परम्परा के मूर्धन्य मनीषी प्रोफेसर सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मेरा पुनीत कर्तव्य है, जिनका उदार हृदय जिज्ञासुमन की तृप्ति हेतु अहर्निश खुला रहा है ।

डा॰ रामेश्वर प्रसाद त्रिपाठी, अध्यक्ष दर्शन विभाग, नेशनल पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बड़हलगंज गोरखपुर, प्रोफेसर डा॰ पारसनाथ द्विवेदी, डा॰ जयप्रकाश त्रिपाठी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का मैं हृदय से आभारी हूँ जिनके द्वारा समय-समय पर प्रदत्त प्रोत्साहन मेरे लिए ज्योति-स्तम्भ बन गया ।

श्री गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य डा॰ गयाचरण त्रिपाठी जी के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनकी सहायता से मुझे विद्यापीठीय पुस्तकालय की सुविधा प्राप्त हो सकी ।

शोध-प्रबन्ध के मङ्गल समापन की पृष्ठभूमि में मेरे पति श्री व्रतदेव पाण्डेय का विशेष योगदान है जिन्होंने मार्ग को सुगम, सरल एवं निष्कण्टक बनाकर गन्तव्य तक पहुँचाया । उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन अपना परम पावन कर्त्तव्य समझती हूँ । इसी के साथ मैं श्री अखिलेशमणि त्रिपाठी, मनोरंजन कर निरीक्षक, इलाहाबाद, यंग साइंटिस्ट पुरस्कार प्राप्त डा॰ कु॰ हरवंश कौर, खेरी, बनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, श्री कमलेशचन्द्र त्रिपाठी, श्री उमानाथ दुबे, श्री सत्यनाथ पाण्डेय के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिनकी सद्भावनाएँ परिश्रान्त मन के लिए पाथेय सिद्ध हुई हैं ।

अन्त में मैं विभाग के उन गुरुजनों तथा ज्ञाताज्ञात शुभेच्छु व्यक्तियों, मित्रों एवं सहयोगियों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञ हूँ, जिनके आशीर्वाद एवं सद्भावनाओं ने शोध-प्रबन्ध की पूर्णाहुति में मन्त्र का काम किया है । स्वच्छ एवम् रोचक टङ्कण हेतु श्री देवेन्द्र यादव के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ ।

विषयानुक्रमणिका

अध्याय/प्रकरण	विषय	पृष्ठ संख्या

आत्म-निवेदन — क-ग

व्याकरणशास्त्र का इतिहास एवं महत्त्व — 1-38

1. व्याकरणशास्त्र का मूल स्त्रोत — 1 - 6
2. महर्षि पाणिनि से पूर्वभावी व्याकरण प्रवक्ता — 7 - 12
3. पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत आचार्य — 12 - 15
4. पाणिनि एवम् उनका व्याकरणशास्त्र — 15 - 18
5. अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार — 18 - 25
6. वार्त्तिकों के भाष्यकार तथा भाष्य का लक्षण — 25 - 28
7. अष्टाध्यायी के वृत्तिकार — 28 - 31
8. पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकार — 31 - 38

लघु सिद्धान्त कौमुदी में आए हुए वार्त्तिकों का समीक्षात्मक अध्ययन — 39 - 215

1. संज्ञा प्रकरणम् : ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम् । — 39 - 45

2. सन्धिप्रकरणम् — 46 - 82

   1. यणः प्रतिषेधो वाच्यः — 46-49
   2. अध्वपरिमाणे च — 50-52
   3. अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम् — 53-57
   4. प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु — 58-59
   5. ऋते च तृतीयासमासे — 59-60
   6. प्रवत्सतर कम्बल वसनार्णदशानामृणे — 60-61
   7. शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् — 61-63
   8. न समासे सिति च — 64-68

अध्याय/प्रकरण	विषय	पृष्ठ संख्या
9.	अनाम्नवति नगरीणामिति वाच्यम्	69-71
10.	प्रत्यये भाषायां नित्यम्	71-74
11.	यवलपरे यवला वा	74-76
12.	चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्	76-77
13.	सपुंकानां सो वक्तव्यः	78-82

सुबन्त प्रकरणम् 83-125

1.	तीयस्य ङित्सु वा	83-85
2.	नुम-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन	86-89
3.	दृन्-कर-पुनः-पूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः	90-95
4.	ऋवर्णान्तस्य णत्वं वाच्यम्	96-99
5.	औङः श्यांप्रतिषेधो वाच्यः	99-101
6.	एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः	102-
7.	वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम्पूर्वविप्रतिषेधेन	103-106
8.	ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः	106-109
9.	परौ व्रजेः षः पदान्ते	110.
10.	एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः	110-113
11.	एते वान्नावादयो नन्वादेशे वावक्तव्याः	114-116
12.	अस्य सम्बुद्धौ वा नङ् नलोपश्च वाच्यः	116-118
13.	अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः	118-124
14.	सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः	124-125

तिङन्त प्रकरणम् 126-140

1.	दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः	126.

अध्याय/प्रकरण	विषय	पृष्ठ संख्या
2.	अन्तः शब्दस्याङ्ङ विधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्	126-127
3.	सिज्लोप एकादेशे सिद्धा वाच्यः	127.
4.	कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः	128.
5.	कमेश्चलेश्चङ् वाच्यः	129.
6.	उर्णोतेराम नेति वाच्यम्	129-130
7.	इर इत्संज्ञा वाच्या	130-132
8.	वुग्युटौ उवङ् यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ	132-134
9.	क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन	134-135
10.	स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः	135.
11.	शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः	136-137
12.	मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्यः	137-138
13.	अड् अभ्यास-व्यवाये पि सुट कात्पूर्व इति वक्तव्यम्	138-139
14.	सर्व प्रातिपदिकेभ्यः क्विब्बा वक्तव्यः	139.
15.	प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलम् इष्ठवच्च	140.

कृदन्त प्रकरणम् 141-143

1.	केलिमर उपसंख्यानम्	141.
2.	मूल-विभुजा दिभ्यः कः	141.
3.	क्विक (प) ब वचि-प्रच्छ यायत-स्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घो सम्प्रसारणं च	142.
4.	घञर्थे क-विधानम्	142-143
5.	स्र्ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः	143.
6.	सम्पदादिभ्यः क्विप्	143.

समास प्रकरणम् 144-166

अध्याय/प्रकरण	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	इवेन् समासो विभक्त्यलोपश्च	144.
2.	समाहारे चा यमिष्यते	145.
3.	अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्	146-149
4.	सर्वनाम्नो वृत्ति: मात्रे पुंवद्भाव:	149-150
5.	द्वन्द्व तत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्	151-152
6.	शाक पार्थिवा दीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्	152-153
7.	प्राऽऽदयो गताद्यर्थे प्रथमया	153.
8.	अत्यादय: क्रान्ता द्यर्थे द्वितीयया	153.
9.	अवादय: क्रुष्टा द्यर्थे तृतीयया	153.
10.	पर्यादियो ग्लाना द्यर्थे चतुर्थ्या	153.
11.	निरादय: क्रान्ता द्यर्थे पञ्चम्या	154-155
12.	गति-कारकोपपदानां कृद्भि: सह समास-वचनं प्राक् सुबुत्पत्ते:	155-159
13.	संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्	159-160
14.	द्विगु प्राप्ता पन्ना लंपूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्य:	160-163
15.	प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोप:	164-165
16.	नयोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोप:	165.
17.	धर्मा दिष्वनियम:	166

<u>तद्धितप्रकरणम्</u> 167-200

1.	स्वतिभ्यामेव	167
2.	देवाद् यञ् अञौ	167-168
3.	बहिषष्टि-लोपो यञ्च	168

अध्याय/प्रकरण	विषय	पृष्ठ संख्या
4.	ईकक् च	169.
5.	सर्वत्र गोः ।र। अच् ।ज। आदि प्रसङ्गेयत्	169-170
6.	लोम्नो पत्येषुबहुष्वकारोवक्तव्यः	171-173
7.	राज्ञो जातवेव इति वाच्यम्	173-174
8.	क्षत्रिय समान शब्दाद् जनपदात् तस्य राजनि अपत्यवत्	174-175
9.	पूरोरण वक्तव्यः	175-176
10.	पाण्डोर्ड्यण्	176-177
11.	कम्बोजा दिभ्य इति वक्तव्यम्	177-178
12.	तिष्य पुष्ययोर्नक्षत्रा णि यलोप इति वाच्यम्	178-179
13.	भस्या ढे तद्धिते । इति पुंवद्भावे कृते	179-180
14.	गज सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्	180-181
15.	अहः खः क्रतौ	181-182
16.	अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीतात् च इति वक्तव्यम्	182-
17.	अमेह क्व-तसि-त्रेभ्य एव	183.
18.	त्यब् ने ध्रुवे इति वक्तव्यम्	184.
19.	वा नामधेयस्य वृद्ध संज्ञा वक्तव्या	184-185
20.	अव्ययानां भ-मात्रे टि-लोपः	185-186
21.	अध्यात्मा देः 'ठञ्' इष्यते	186
22.	अश्मनो विकारे टि-लोपो वक्तव्यः	187.
23.	अधर्मात् इति वक्तव्यम्	187-188
24.	नाभि नभं च	188
25.	पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानाम एव रत्वम्	189.
26.	गुण-वचनेभ्यो मतुपो लुग् इष्टः	189-190

अध्याय/प्रकरण	विषय	पृष्ठ संख्या
27.	प्राण्यङ्गाद् एव	190.
28.	अन्येभ्योऽपि दृश्यते	191.
29.	अर्शसोऽलोपश्च	191-192
30.	दृशिग्रहणाद् भवदआदियोग एव	192-193
31.	एतदोऽपि वाच्यः	193-194
32.	ओकार-सकार-भकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्राग् अकच् अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्राग् अकच्	194-195
33.	सर्व-प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्	195-196
34.	आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्	196.
35.	अभूत-तद्भाव इति वक्तव्यम्	197-198
36.	अव्ययस्य च्वावीत्वं न - इतिवाच्यम्	198.
37.	डाचि च द्वे बहुलम् ।	199.
38.	नित्यम् आम्रेडिते डाचि इति वक्तव्यम्	200.

<u>स्त्रीप्रत्यय प्रकरणम्</u> 201-215

1.	नञ्-स्नञ्-ईकक्-ख्युन्-तरुण-तलुनानाम् उपसंख्यानम्	201-202
2.	आम् अनडुहः स्त्रियां वा ।	202-203
3.	पालकाऽन्तात् न	203-204
4.	सूर्याद् देवतायां चाप् वाच्यः	204-205
5.	सूर्याऽगस्त्ययोश्छे च ङ्यां च य-लोपः	205-206
6.	हिमाऽरण्ययोर्महत्त्वे	206-207
7.	यवाद् दोषे	207
8.	यवनात् लिप्याम्	207-208

अध्याय/प्रकरण	विषय	पृष्ठ संख्या
9.	मातुलोपाध्याययोः 'आनुक्' वा	208-209
10.	आचार्यादि अणत्वं च	209-210
11.	अर्य-क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे	210-211
12.	योपध-प्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानाम् अप्रतिषेधः	211-212
13.	मत्स्यस्य ङ्याम्	212-213
14.	श्वशुरस्योकाराकार-लोपश्च	213-215

अधीत-ग्रन्थ-माला 216-217

व्याकरण शास्त्र का इतिहास एवम् महत्त्व

व्याकरणशास्त्र का मूल स्रोत

वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भण्डार है । पौराणिक ऋषियों, महर्षियों से लेकर अधुनातन मनीषियों की यही सम्मति रही है । सर्वदेवमय मनु ने वेद को सर्व-ज्ञानमय कहा है ।[1] वेद अपौरुषेय एवं सनातन सत्य होने के कारण लौकिक दोषों से परे है वहीं पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति में सर्वथा सहायक है । समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत होने के कारण व्याकरण के अनेक शब्दों एवं पदों की व्युत्पत्तियाँ वैदिक ऋचाओं में भरी पड़ी हैं । "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:"[2] में यज्ञ शब्द को यज् धातु से सिद्ध किया गया है । "यज्ञ: कस्मात् ?" प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ता: ।"[3] "यजयाचयतिविच्छप्रच्छरक्षोनङ् ।"[4] तथा "ये सहांसि सहसा सहन्ते"[5] में "स:धातो: असुन्"[6] प्रत्यय सिद्धि की गई है ।

'व्याकरण' पद जिस धातु से बना है उसके वास्तविक अर्थ का प्रयोग भी यजुर्वेद में विद्यमान है ।[7] व्याकरणशास्त्र की सृष्टि का विवेचन यदि असम्भव नहीं तो दुष्प्राप्य अवश्य है किन्तु इतना स्पष्ट है वैदिक ध्वनि पाठों के सृष्टि से पूर्व

---

1. "सर्वज्ञानमयो हि स:" । ।मनु 2/7/मेधातिथि की टीका। ।
2. ऋग्वेद 1/164/50.
3. निरुक्त 3/19.
4. अष्टाध्यायी 3/3/90 ।युधिष्ठिरमीमांसा भाग ।।
5. ऋग्वेद 6/66/90.
6. द०उ०.9/49/प०उ० 4/194। इत्यसुन्
7. यजुर्वेद 19/17.

(3200 वि0पू0) व्याकरण-शास्त्र ने परिपक्वता प्राप्त कर लिया था । वाल्मीकि रामायण के अनुशीलन से यह बात प्रमाणित हो जाती है । रामराज्य में व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन अध्यापन विधिवत् हो रहा था ।[1] यास्कीय निरुक्त में महाभारतयुद्ध के समकालीन अनेक वैयाकरण विशारदों का परिचय मिलता है ।[2] महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-शास्त्र के पठन-पाठन को चिरातीत से जोड़ा है ।[3]

उपर्युक्त तथ्यों एवम् उपलब्ध ग्रन्थोल्लेख से हम इस निष्कर्ष में पहुँच सकते हैं कि व्याकरण शास्त्र की आदि सृष्टि सुदीर्घ प्राचीनकाल में हो चुकी थी । तिथि एवम् कालनिर्देश दुष्कर है किन्तु हम इतना स्पष्ट रूप से संकेतित कर सकते हैं । रामायणकाल में व्याकरण शास्त्र का पठन-पाठन प्रौढ़तम रूप से हो रहा था । 'व्याकरण' शब्द की प्राचीनता के विषय में इतना उल्लेख ही पर्याप्त होगा कि 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग रामायण, गोपथब्राह्मण, मुण्डकोपनिषद् और महाभारत प्रभृति सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । 'व्याकरण' शब्द की प्राचीनता का प्रमाण 'वेदाङ्गों' के अनुशीलन से भी प्राप्त होता है । वेदाङ्गों के छः भेद बताये गए हैं 1. शिक्षा, 2. व्याकरण, 3. निरुक्त, 4. छन्द, 5. कल्प 6. ज्योतिष।

---

1. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपि भाषितम् ॥ किष्किंधाकाण्ड 3/29 ॥

2. न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके - निरुक्त 1/12.

3. पुरा कल्पएतदासीत, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं समाधीयते ।
- महाभाष्य अ0 1, पा0 1, आ0 1.

महर्षि पत जलि ने सुप्रसिद्ध आगम वचन का उल्लेख करके वेदाङ्गों के अध्ययन की ओर संकेत किया है - "ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मः षडङ्गोवेदोऽध्येयोज्ञेयश्च ।"[1]

ब्रह्मा

भारतीय विचारधारा एवम् मनीषा के क्षेत्र में जगत्कर्ता ब्रह्मा को ही सभी विद्याओं का आदिस्रष्टा निरूपित किया गया है । इस सनातन मान्यतानुसार ब्रह्मा ही व्याकरणशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता हैं । जैसा कि ऋक्तन्त्रकार का उल्लेख है "ब्रह्माबृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रोभरद्वाजाय, भरद्वाजऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः ।"[2] ऋक्तन्त्रकार के द्वारा प्रस्तुत प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर ब्रह्मा ही व्याकरण शब्द ज्ञान के एकमात्र आदि प्रवक्ता हैं । भारतीय पौराणिक मान्यतानुसार*आदिप्रवक्ता ब्रह्मा सृष्टिलीला के पूर्व तथा जलप्लावन के पश्चात् हुआ था । *यह नाम परवर्तीकाल में जाकर अनेक व्यक्तियों के लिए उपाधि रूप में प्रयोग होने लगा, फिर भी ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार सभी विद्याओं का सर्वप्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा ही माना जाता है । यह सर्वविदित एवम् सनातन मान्यता है । कालक्रमानुसार ब्रह्मा का निश्चित काल लगभग 16 सहस्त्र वर्ष पूर्व है ।

आर्यावर्त के समस्त पौराणिक एवम् ऐतिहासिक विशेषज्ञों की यह आदि सम्मति रही है कि सृष्टि में जितनी भी विद्याओं का प्रचलन हुआ है उन सभी

---

1. महाभाष्य अ० 1, पा० 1, आ० 1.
2. ऋक्तन्त्र 1/4.

विद्याओं का पारायण एवं प्रवचन ब्रह्मा ने ही किया है जो कि अतिविस्तृत एवं प्रभूत आकार का था । ब्रह्मा का यही आदि वचन ही भविष्य में चलकर 'शास्त्र' अथवा नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ । ब्रह्मा का यही सर्वप्रथम प्रवचन ही अनेकों अनुगामी प्रवचनों का उपजीव्य बना । किन्तु क्रमशः संक्षिप्त से संक्षिप्ततर होता गया । इसीलिए आगामी उत्तरवर्ती प्रवचनों को अनुशास्त्र, अनुतन्त्रअथवा अनुशासन कहा जाने लगा । एतदर्थ में 'शास्त्र' अथवा 'तंत्र' शब्द का प्रयोग गौणी वृत्ति से किया जात जाता है ।[1]

ब्रह्मा को समस्त विद्याओं एवम् शास्त्रों का आदि प्रवक्ता माना गया है उनमें बाइस शास्त्रों का सर्वमान्य सड्केत पण्डित भगवद्दत्त जी द्वारा लिखित "भारत-वर्ष का वृहद् इतिहास" में दर्शाया गया है । नामोल्लेख एतदानुसार है - वेदज्ञान, ब्रह्मज्ञान, योगविद्या, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र कामशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, नाट्यवेद, इतिहास-पुराण, मीमांसाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र इत्यादि ।

बृहस्पति

ब्रह्मा के पश्चात् व्याकरणशास्त्र का द्वितीय सृष्टा बृहस्पति है । श्रुतन्त्रा-नुसार अड्गिरा का पुत्र होने के कारण ही बृहस्पति ही अड्गिरस नाम से विख्यात हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे देवों का पुरोहित लिखा है ।[2] तथा कोष ग्रन्थों में इसे 'सुरों का आचार्य' भी कहा है ।

---

1. "तंत्रमिवतंत्रम्"
2. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः । ऐ0ब्रा0 8/26.

बृहस्पति ने भी अनेक शास्त्रों का प्रवचन किया था । उनमें से कतिपय शास्त्रों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, वे इस प्रकार हैं - सामगान, अर्थशास्त्र, इतिहास-पुराण, वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, अगदतन्त्र ।

इन्द्र

पतञ्जलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि बृहस्पति[1] ने इन्द्र के लिए प्रतिपद पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था ।[2] उस समय तक प्रकृति-प्रत्यय का विभाग नहीं हुआ था । सर्वप्रथम इन्द्र ने ही शब्दोपदेश की प्रतिपद पाठ रूपी प्रक्रिया की दुरूहता को समझा और उसने पदों के प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्दोपदेश प्रक्रिया की परिकल्पना की ।[3]

'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रम् ब्रुवन् , इमां नो वाचं व्याकुर्विति ------ तामिन्द्रो मध्यतो वक्रम्य व्याकरोत् ।' उपर्युक्त कथन की व्याख्या सायणाचार्य ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है - "तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य

---

1. यही बृहस्पति देवों का पुरोहित था । इसने अर्थशास्त्र की रचना की थी । यह चक्रवर्ती मरुत्त से पहले हुआ था । द्र0 महाभारत [illegible], 75/6
2. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। महाभाष्य अ0 1, पा0 1, आ0 1.
3. तैत्तिरीय संहिता, 6/4/7.

प्रकृति प्रत्यय विभागं सर्वत्राकरोत ।" अर्थात् "वाणी पुराकाल में अव्याकृत बोली जाती थी । देवों ने इन्द्र से कहा कि इस वाणी को व्याकृत करो । इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़कर व्याकृत किया ।"

महेश्वर सम्प्रदाय

व्याकरणशास्त्र में दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध है । प्रथम ऐन्द्र द्वितीय माहेश्वर या शैव। कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का है, और पाणिनीय व्याकरण शैव सम्प्रदाय का । महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत शिव सहस्रनाम में लिखा है - "वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य" । इससे स्पष्ट है कि बृहस्पति के समान शिव ने भी षडङ्ग का प्रवचन किया था ।[1]

व्याकरणशास्त्र के तीन् विभाग

सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र को तीन विभागों में विभाजित किया गया है -

1. छन्दसमात्र - प्रातिशाख्यादि ।
2. लौकिकमात्र - कातन्त्रादि ।
3. वैदिक लौकिक उभयविधि - आपिशल, पाणिनि आदि ।

इसमें लौकिक व्याकरण के जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे सब पाणिनि से अर्वाचीन हैं ।

---

1. निरुक्त 1/20.

महर्षि पाणिनि से पूर्व भावी व्याकरण प्रवक्ता आचार्य

प्रस्तुत अध्ययन में हम इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षण कर रहे हैं जिन आचार्यों का उल्लेख पाणिनीयाष्टक में नहीं मिलता है । इनमें सर्वप्रथम महेश्वर ।शिव। हैं जिनका समय निर्धारण ।1500 वि0पू0 किया गया है । महाभारत के शान्तिपर्व के शिव सहस्त्रनाम में महेश्वर शिव को वेदाङ्ग अर्थात् षडङ्ग का प्रवक्ता कहा गया है । 'वेदात्षडङ्गान्युदधृत्य ।'[1]

प्रस्तुत श्लोक में विद्यमान चौदह प्रत्याहारसूत्रों को माहेश्वर सूत्र के नाम से जाना जाता है ।

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्यमहेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ।।

इसका उल्लेख पाणिनीय शिक्षा की समाप्ति पर मिलता है ।

द्वितीयाचार्य बृहस्पति का यद्यपि पूर्व अध्ययन में बृहस्पति के परिचय आदि के विषय में यथासम्भव उल्लेख किया जा चुका है फिर भी महाभाष्य के पूर्व पृष्ठ 6। में जो उद्धरण दिया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि बृहस्पति ने शब्दों का प्रति-पद पाठ के द्वारा प्रवचन किया था । न्यायमञ्जरी में इस बात की पुष्टि औशनस

---

1. महाभाष्य-शान्तिपर्व 284/92.

वचन से होती है "तथा च बृहस्पति - प्रतिपदमशाक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यव्यवस्थानात्
तत्रापिस्खलितदर्शनाद् अवस्थाप्रसंगाच्च मरणान्तोव्याधिव्याकरणमिति औशनसा:"
इति ।

महाभाष्य के व्याख्याकार भर्तृहरि एवं कैयट के मतानुसार बृहस्पति ने शब्दपरायण नामक शब्दशास्त्र का प्रवचन इन्द्र के लिए किया था ।

बृहस्पति के पश्चात् इन्द्र को व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता स्वीकार किया गया है । इन्द्र के पिता प्रजापति को एवं माता अदिति बताया गया है । तैत्तिरीय संहिता 6/4/7 के प्रमाण के पूर्व भी यह बताया जा चुका था कि देवों की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र की रचना की । उससे पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत-व्याकरण सम्बन्ध रहित थी । इन्द्र के प्रयास से ही वह व्याकृत एवम् व्याकरण युक्त हुई । अत: इन्द्र ने सर्वप्रथम प्रतिपद प्रकृति-प्रत्यय विभाग का विचार करके शब्दोपदेश की प्रक्रिया प्रचलित की । इन्द्र की प्रमुख रचना ऐन्द्र व्याकरण यद्यपि इस समय अनुपलब्ध है तथापि इसका सङ्केत अनेक रचनाओं का उल्लेख मिलता है । लङ्कावतार सूत्र[1] में ऐन्द्रशब्दशास्त्र सोमेश्वर सूरि लिखित यशस्तिलक चम्पू में ऐन्द्र व्याकरण का स्पष्ट उल्लेख है ।[2]

---

1. इन्द्रोऽपि महामते अनेकशास्त्र विदग्ध बुद्धि: स्वशास्त्र प्रणेता --------- ।
   - टेक्निकल टर्म्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ 280.

2. प्रथम आश्वास, पृष्ठ 90.

चतुर्थाचार्य वायु को स्वीकार किया गया है इनका समय 8500 वि0पू0 माना गया है । तैत्तिरीय संहिता 6/4/7 में लिखा है - इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी । अतः स्पष्ट है कि इन्द्र और वायु के सहयोग से देववाणी के व्याकरण की सर्वप्रथम रचना हुई । अतएव कई स्थानों में वाणी के लिए "वाग्वाऐन्द्र वायव:" आदि प्रयोग मिलता है । वायुपुराण 2/44 में वायु को "शब्दशास्त्रविशारद" कहा गया है । क्वीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में "वायु" व्याकरण का उल्लेख है ।

व्याकरणशास्त्र का तृतीय आचार्य बार्हस्पत्य भरद्वाज है । यद्यपि वर्तमान समय में भरद्वाजतंत्र अनुपलब्ध है । तथापि ऋकतंत्र के पूर्वोक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि भरद्वाज व्याकरण शास्त्र का प्रवक्ता था ।

आचार्य भागुरि का उल्लेख पाणिनीयाष्टक में उपलब्ध नहीं होता तथापि भागुरि-व्याकरण-विषयक मतप्रदर्शक निम्नश्लोक वैयाकरण-निकाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है-

वष्टि भागुरिल्लोपमवाप्योरूपसर्गयो: ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

आचार्य भागुरि के पश्चात् उल्लिखित प्रसिद्ध आचार्य पौष्करसादि[1] है । तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में पौष्करसादि के अनेक मत उद्धृत हैं ।

---

1. महाभाष्य 8/4/48.

आचार्य चारायण के द्वारा लिखित किसी शास्त्र का स्पष्ट निर्देशक कोई वचन उपलब्ध नहीं हुआ है । लौगाक्षि-गृह्य के व्याख्याता देवपाल ने 5/1 की टीका में चारायण अपरनाम चारायणि का एक सूत्र और उसकी व्याख्या उद्धृत किया है वह इस प्रकार है – तथा च चारायणि सूत्रम् – "पुरूकृतेच्छछयो:' इति । पुरू शब्द: कृतिशाब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छ्रे परत: । पुरूच्छदन पुच्छम् , कृतस्य छ्रदनं विनाशनं कृच्छम्' इति ।

महाभाष्य[1] में चारायण को वैयाकरण पाणिनि और रौढि के साथ स्मरण किया है । अत: चारायण अवश्य व्याकरण प्रवक्ता रहा होगा ।

वैयाकरण निकाय में काशकृत्स्न को व्याकरण प्रवक्ता होना प्रसिद्ध है । महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में आपिशल और पाणिनीय शब्दानुशासनों के साथ काशकृत्स्न शब्दानुशासन का उल्लेख मिलता है ।[2]

आचार्य शन्तनु ने सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था । सम्प्रति उपलभ्यमान फिट् सूत्र उसी शास्त्र का एक देश है ।

---

1. महाभाष्य 1/1/73.
2. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम् इति ।

आचार्य व्याघ्रपद्य का नाम पाणिनीय व्याकरण में उपलब्ध नहीं होता । काशिका 8/2/1 में उद्धृत 'शुष्किका शुष्कजङ्घा च' कारिका को भट्टोजी दीक्षित ने वैयाघ्रपद्यविरचित वार्तिक माना है । अत: यदि यह वचन पाणिनीय सूत्र का प्रयोजन वार्तिक हो, तो निश्चय ही वार्त्तिककार वैयाघ्रपद्य अन्य व्यक्ति रहा होगा। हमारा विचार है कि यह कारिका वैयाघ्रपदीय व्याकरण की है परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सम्बन्ध पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से जोड़ दिया । इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य वैयाघ्रपद्य व्याकरण प्रवक्ता था ।

आचार्य रौढि का निर्देश पाणिनीय तंत्र में नहीं है । वामन काशिका 6/2/37 में उदाहरण देता है - 'आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः' । इनमें श्रुत आपिशल, पाणिनि और काशकृत्स्न निस्सन्देह वैयाकरण हैं अत: इनके साथ स्मृत रौढि आचार्य भी वैयाकरण होगा ।

चरक संहिता के टीकाकार जज्झट ने चिकित्सास्थान 2/26 की व्याख्या में आचार्य शौनकि का एक मत उद्धृत किया है - कारणशब्दस्तु व्युत्पादित: - करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शौनकि: । इससे यह स्पष्ट है कि शौनकि भी व्याकरण प्रवक्ता था ।

गौतम का नाम पाणिनीय तंत्र में नहीं मिलता । महाभाष्य 6/2/36 में 'आपिशलपाणिनीयव्यडीयगौतमीयाः' प्रयोग मिलता है । इसमें स्मृत आपिशलि,

पाणिनि और व्यडि ये तीन वैयाकरण हैं । अत: इनके साथ स्मृत आचार्य गौतम भी वैयाकरण प्रतीत होता है इसकी पुष्टि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और मैत्रायणी प्रातिशाख्य से होती है इसमें आचार्य गौतम के मत उद्धृत हैं ।

आचार्य व्यडि का नामोल्लेख पाणिनीय सूत्र में नहीं है फिर भी आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्यडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं । महाभाष्य 6/2/36 में 'आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीया: ' प्रयोग मिलता है । इसमें प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि और पाणिनि के अन्तेवासियों के साथ व्याडि के अन्तेवासियों का निर्देश है । शाकल्य और गार्ग्य का स्मरण पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में किया है । इससे स्पष्ट है कि व्याडि ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था ।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत आचार्य

पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में दश प्राचीन व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है वे वर्णानुक्रम से निम्नलिखित हैं -

आपिशलि

आचार्य आपिशल का उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी के एक सूत्र में उपलब्ध होता है । महाभाष्य 4/2/45 में आपिशलि का मत प्रमाण रूप में उद्धृत किया है वामन, न्यासकार, जिनेन्द्र बुद्धि, कैयट तथा मैत्रेयरक्षित आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने आपिशल व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं । पाणिनि के स्वीय शिक्षा के अन्तिम

प्रकरण में भी आपिशलि का उल्लेख किया है । आपिशल व्याकरण प्रसिद्ध व्याकरण है ।

काश्यप

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में काश्यप का मत दो स्थानों पर उद्धृत किया है । वाजसनेय प्रातिशाख्य 4/5 में शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख मिलता है । अतः अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में उल्लिखित काश्यप एक व्यक्ति है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं । काश्यप व्याकरण है - कल्प, छन्दःशास्त्र, आयुर्वेद संहिता, अलङ्कारशास्त्र इत्यादि ।

गार्ग्य

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख तीन स्थानों पर किया । गार्ग्य के अनेक मत ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेयी प्रातिशाख्य में उपलब्ध होते हैं । उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण से विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था । गार्ग्य व्याकरण है निरुक्त, सामवेद का पदपाठ, शाकल्यतंत्र, लोकायतशास्त्र आदि ।

गालव

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख चार स्थानों पर किया है । पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति 6/1/77 में गालव का व्याकरण सम्बन्धी एकमत उद्धृत किया है । इससे विस्पष्ट है कि गालव ने व्याकरणशास्त्र रचा था । गालव व्याकरण शास्त्र है - संहिता, ब्राह्मण, क्रमपाठ, शिक्षा, निरुक्त, कामसूत्र आदि ।

चाक्रवर्मण

चाक्रवर्मण आचार्य का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा उणादि सूत्रों में मिलता है । भट्टोजी दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इसका एक मत उद्धृत किया है । श्रीपतिदत्त ने कातन्त्रपरिशिष्ट के 'हेतौ वा' सूत्र की वृत्ति में चाक्रवर्मण का उल्लेख किया है । इससे इसका व्याकरण प्रवक्तृत्व विस्पष्ट है । चाक्रवर्मण व्याकरण शास्त्र है - द्वय की सर्वनाम संज्ञा, नियतकाला: स्मृतय: का अप्रामाण्य आदि ।

भारद्वाज

भारद्वाज का उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी में केवल एक स्थान में मिलता है । अष्टाध्यायी 4/2/145 में भी भारद्वाज शब्द पाया जाता है परन्तु काशिका कार के मतानुसार वह भारद्वाज पद देशवाची है, आचार्यवाची नहीं । भारद्वाज का व्याकरण विषयक मत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 16/3 और मैत्रायणी प्रातिशाख्य 2/5/6 में मिलता है । भारद्वाज व्याकरण शास्त्र है - भारद्वाज वार्त्तिक, आयुर्वेद संहिता, अर्थशास्त्र ।

शाकटायन

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आचार्य शाकटायन का उल्लेख तीन बार किया है । वाजसनेयी प्रातिशाख्य तथा ऋक्प्रातिशाख्य में भी इसका अनेक स्थानों में निर्देश मिलता है । यास्काचार्य ने निरुक्त में वैयाकरण शाकटायन का मत उद्धृत किया है । पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में शाकटायन को व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता कहा है । उनके प्रमुख व्याकरणशास्त्र है - निरुक्त, कोष, दैवत ग्रन्थ, ऋक्तंत्र, लघु-ऋक्तंत्र, सामतंत्र आदि।

शाकल्य

पाणिनि ने शाकल्य आचार्य का मत अष्टाध्यायी में चार बार उद्धृत किया है । शौनक और कात्यायन ने भी अपने प्रातिशाख्यों में शाकल्य के मतों का उल्लेख किया है । ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल के नाम से उद्धृत समस्त नियम शाकल्य के ही हैं । शाकल्य व्याकरणशास्त्र है - शाकलचरण, पदपाठ, माध्यन्दिन पदपाठ आदि ।

सेनक

पाणिनि ने सेनक आचार्य का उल्लेख केवल एक सूत्र में किया है । अष्टाध्यायी के अतिरिक्त सेनक आचार्य का कहीं भी उल्लेख नहीं है इसलिए इनके विषय में अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती है ।

औदुम्बरायण

आचार्य औदुम्बरायण का नाम पाणिनि अष्टाध्यायी में केवल एक स्थान पर मिलता है । इसके अतिरिक्त कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता । सम्भवतः औदुम्बरायण शाब्दिकों में प्रसिद्ध स्फोटतत्व के आद्य उपज्ञाता थे ।

पाणिनि एवं उनका व्याकरणशास्त्र

संस्कृत भाषा के प्राचीन व्याकरणों में से एकमात्र पाणिनीय व्याकरण ही पूर्णरूपेण प्राप्त होता है । यह प्राचीन आर्ष वाङ्मय की अनुपम निधि है । इससे देववाणी का प्राचीन और अर्वाचीन समस्त वाङ्मय सूर्य के प्रकाश की भाँति प्रकाशमान

है । विश्व में किसी भी इतर प्राचीन भाषा का ऐसा परिष्कृत व्याकरण आज तक उपलब्ध नहीं होता ।

आचार्य पाणिनि के अनेक नाम प्रसिद्ध हैं - पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालातुरीय, आहिक, शालङ्कि एवम् पाणिनि । पाणिनि का समय लगभग 2900 वि० पू० माना जाता है । पाणिनि का कुल अत्यन्त सम्पन्न था । उसने अपने शब्दानुशासन के अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए भोजन का प्रबन्ध रखा था । अष्टाध्यायी के 'उदक् च विपाशः'[1] वाहीक ग्रामेभ्यश्च'[2] इत्यादि सूत्रों तथा इनके महाभाष्य से प्रतीत होता है कि पाणिनि का 'वाहीक' देश से विशेष परिचय था । अतः पाणिनि वाहीक देश वा उसके अतिसमीप का निवासी होगा । पं० शिवदत्त शर्मा ने पाणिनि का शालङ्कि नाम पितृ-व्यपदेशज माना है और पाणिनि के पिता का नाम शलङ्क लिखा है । यज्ञेश्वर भट्ट ने भी शालङ्कि के पिता का नाम शलङ्क ही लिखा है । पाणिनि की माता का नाम दाक्षी तथा ममेरा भाई दाक्षायन (व्याडि) को बताया है । मृत्यु के विषय में विदित होता है कि इनको सिंह ने मारा था । पञ्चतंत्र के अधोलिखित श्लोक से इसकी पुष्टि होती है :-

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम् ,
अज्ञानावृत्तचेतसामतिरुषां को र्थस्तिरश्चां गुणैः ॥

---

1. अष्टाध्यायी 4/2/74, 2. वही, 4/2/117.

वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई थी तथा अनुज पिङ्गल की मृत्यु मगर के निगलने से हुई थी ।

पाणिनीय व्याकरण का सम्बन्ध शैव महेश्वर सम्प्रदाय के साथ है । यह बात प्रत्याहार सूत्रों को माहेश्वर सूत्र कहने से ही स्पष्ट है । पाणिनि व्याकरण तंत्र का आरम्भ 'वृद्धिरादैच' सूत्र से होता है । पाणिनि व्याकरण का मूल ग्रन्थ अष्टाध्यायी है । आचार्य पाणिनि अष्टाध्यायी का तीन प्रकार से पाठ का प्रवचन किया - धातुपाठ, गणपाठ तथा उणादिपाठ । इन विविध पाठों का सूक्ष्म अन्वेषण करके हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य पाणिनि के प चाङ्ग व्याकरण का ही त्रिविध पाठ है । वह पाठ सम्प्रति प्राच्य, उदीच्य और दक्षिणात्य से त्रिधा विभक्त है । पाणिनीय शास्त्र के चार नाम उपलब्ध होते हैं, अष्टक, अष्टाध्यायी, शब्दानुशासन और वृत्तिसूत्र पाणिनीय ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है अतः उनके ये नाम प्रसिद्ध हुए हैं । इसमें अष्टाध्यायी नाम सर्वलोक विश्रुत हैं । 'शब्दानुशासन' यह नाम महाभाष्य के आरम्भ में मिलता है । पाणिनीय सूत्र के लिए 'वृत्तिसूत्र' पद का प्रयोग महाभाष्य में दो स्थलों पर उपलब्ध होता है । अष्टाध्यायी का प्रथम सन्धि प्रकरण, द्वितीय में सुबन्त प्रकरण, तृतीय में तिङन्त प्रकरण, चतुर्थ में कृदन्त प्रकरण, प चम में विभक्त्यार्थ प्रकरण, षष्ठ में समास प्रकरण, सप्तम में तद्धित तथा अष्टम् में स्त्री प्रत्यय प्रकरण है । अष्टाध्यायी के सूत्रों पर ही महर्षि कात्यायन ने वार्त्तिक लिखे और उन्हीं वार्तिकों पर भाष्यकार पत जलि में भाष्य लिखे । 3965 सूत्र पाणिनि के ही हैं । अष्टाध्यायी के उपजीव्य ग्रन्थों में आपिशलतंत्र प्रमुख है जिसका समर्थन पदम जरीकार ने भी किया है ।

पाणिनि ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की रचना संहिता पाठ में किया था। यद्यपि पाणिनि ने प्रवचनकाल में सूत्रों का विच्छेद अवश्य किया होगा क्योंकि उसके बिना सूत्रार्थ का प्रवचन सम्भव नहीं था किन्तु पतञ्जलि ने संहिता पाठ को ही प्रामाणिक माना है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार - "पाणिनि ने समस्त सूत्रों का प्रवचन एकश्रुति स्वर में किया था।" कैयट ने भी इसका समर्थन किया है किन्तु नागेश भट्ट ने इसका खण्डन किया है। पाणिनि के अन्य व्याकरण ग्रन्थ अधोलिखित है - 1. धातुपाठ, 2. गणपाठ, 3. उणादिसूत्र 4. लिङ्गानुशासन ये चारों ग्रन्थ पाणिनीय शब्दानुशासन के परिशिष्ट हैं।

अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक आचार्यों ने वार्त्तिक पाठ की रचना की थे। उनके ग्रन्थ वर्तमान समय में अनुपलब्ध हैं। बहुत से वार्त्तिककारों के नाम भी अज्ञात हैं। महाभाष्य में निम्न वार्त्तिककारों के नाम उपलब्ध होते हैं -

1. कात्यायन, 2. भारद्वाज, 3. सुनाग, 4. क्रोष्टा, 5. बाडव।

सर्वप्रथम वार्त्तिक की जानकारी हेतु उसके लक्षण पर विचार करना अनिवार्य है।

अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से वार्त्तिक के लक्षण किए हैं। पराशर पुराण में वार्त्तिक का लक्षण इस प्रकार से है :-

"उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुः वार्त्तिकज्ञामनीषिणः ॥"[1]

इसी प्रकार से आचार्य हेमचन्द्र ने वार्त्तिक का लक्षण इस प्रकार से दिया है -

"उक्तानुक्तदुरुक्तानां व्यक्तिकारी तु वार्त्तिकम् ॥"[1]

राजशेखर के अनुसार -

"उक्तानुक्तदुरुक्तं चिन्ता वार्त्तिकम् ।"[2]

नागेश ने तो वार्त्तिक का लक्षण इस प्रकार से दिया है -

"उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्त्तिकत्वम्"।[3]

इन वार्त्तिक लक्षणों में प्राय: सभी अर्थत: समान हैं । यहाँ पर वार्त्तिक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए मनुस्मृति के द्वारा वार्त्तिक के लक्षण की व्यवस्था की गई है । वार्त्तिक शब्द प्रकृति: वृत्ति: शब्दा: । "वृत्तौ साधु वार्त्तिकमिति" कैयट ने वार्त्तिक शब्द की ऐसी व्युत्पत्ति की है । यद्यपि वृत्ति शब्द अनेकों अर्थों में प्रयुक्त होता है फिर भी यहाँ पर 'वृत्ति' शब्द का 'शास्त्र प्रवृत्ति' यह अर्थ सिद्ध होता है । इसलिए 'वृत्ति समवायार्थः वर्णानामुपदेश:" ऐसा भाष्यकार ने कहा है । "कापुनर्वृत्ति: शास्त्र प्रवृत्ति:"[4] इस वार्त्तिक का अर्थ कात्यायन ने भी इसी अर्थ में वृत्ति शब्द प्रयोग किया है । यह - तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात्[5] वार्त्तिक व्याख्यान परक कैयट ग्रन्थ से स्पष्ट होता है कि उक्त वार्त्तिक

---

1. हेमचन्द्र - हेमशब्दानुशासन ।
2. राजशेखर - काव्यमीमांसा, पृष्ठ 11, (पटना संस्करण)
3. नागेश उद्योत - 7/3/59 गु0प्र0सं0, पृ0 2/2।
4. महाभाष्य की0 सं0भा0 1, पृष्ठ 13.
5. भाष्यवार्त्तिक की0 सं0भा0 1, पृष्ठ 16.

में अनुवृत्ति निर्देश पद का व्याख्यान करते हुए कैयट ने कहा है "वृत्ति शास्त्रस्य• लक्ष्ये प्रवृत्तिरक्तनुगतो निर्देशो नुवृत्ति निर्देश:" इसी प्रकार से शास्त्रप्रवृत्ति में जोड़ा जाता है वह सब वार्त्तिक है । ऐसा वार्त्तिक शब्द की व्युत्पत्ति से वार्त्तिक पद का अर्थ सिद्ध होता है । शास्त्र प्रवृत्ति केवल सूत्र से जानी जाती है । ऐसा नहीं है । अपितु व्याख्यात्मक सूत्रों की वार्त्तिकें भी व्याख्यात्मक होती है । वृत्ति के व्याख्यान 'वार्त्तिक' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति की गई है । व्याख्यान पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि – "न केवलं चर्चा पदानि व्याख्यानं वृद्धि:, आत्, एच् इति । किं तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युउदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतद् समुदितं व्याख्यानं भवति ।"[1] यहाँ पर वाक्याध्याहार पद से सूत्रों में अपेक्षित पदों का दूसरे सूत्रों से समायोजन ही वार्त्तिक का सूत्रार्थ की व्यवस्था करना अर्थ निकलता है ।

भाष्यकार आख्यान शब्द अनेक विधि को बताता है । यथा – व्याख्यानमन्वाख्यानं प्रत्याख्यान चेति । वहाँ पर अपेक्षित देशादिपूर्ति सूत्रार्थ की व्यवस्था ही न केवल व्याख्यान पद के चर्चित विषय है । अपितु व्याख्यान इत्यादि के द्वारा "वृद्धिरादैच्" सूत्र के भाष्य प्रमाण से संक्षेप किया है । अन्वाख्यान शब्द की भाष्यकार ने अनेकों स्थलों पर प्रयोग किया है । यथा – "किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते । आहो स्विद् विवृतोपदेशश्चोद्यते ।" "नैतदन्वाख्येयमधिकारा अनुवर्त्तन्ते इति ।" सूत्रानुरूप लक्ष्य सिद्धि के अनुसार आख्यान ही अन्वाख्या-

---

1. भाष्य – कीO सO भाO 1, पृष्ठ 11.

है । सूत्रों का सूत्रोक्त पदों का सार्थक्य अन्वाख्यान कोटि में आता है । इसी प्रकार से 'प्रत्याख्यान' शब्द भी भाष्य में यत्र-तत्र प्रयुक्त हुआ है । यथा - "इह हि किंचिद क्रियमाणं चोद्यते किंचिच्च क्रियमाणं प्रत्याख्याते ।"[1] "यद्येष प्रत्याख्यानसमय: इदमपि तत्र प्रत्याख्यायते ।"[2] प्रतिकूल आख्यान-प्रत्याख्यान है । इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रत्याख्यान शब्द सूत्रों का सूत्रांशों का अन्यार्थोपादन करता है। ये आख्यान की तीन विधियाँ व्याख्यान, अन्वाख्यान, प्रत्याख्यान वार्त्तिकों में दिखाई देती है । कुछ वार्त्तिक अपेक्षित सूत्र के देश की पूर्ति की व्यवस्था करती है। यथा - "तस्य भावस्त्वतलौ"[3] इस सूत्र पर "सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावात् द्रव्ये शब्द निवेशस्तदभिधाने त्वतलौ" ऐसा वार्त्तिक के द्वारा उक्त सूत्र का अर्थ परिष्कृत होता है । इसी प्रकार से व्याख्यात्मक वार्त्तिकों को देखना चाहिए । कुछ वार्त्तिक सूत्रार्थ के विषय में दो पक्षों में सन्देह उपस्थित करते हुए लक्ष्य सिद्धि के अनुरूप अनेकों पदों को उपस्थित करती है । यथा - "आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्" इस सूत्र पर "पूर्वं प्रति विद्यमानत्वादुत्तरत्रानन्तया प्रसिद्धि:", "सिद्धं तु पूर्वपदस्येति वचनाद" इस प्रकार दो वार्त्तिक हैं । कुछ वार्त्तिक सूत्रों एवं सूत्रांशों का प्रतिपादन करती हैं । सूत्र के अनुसार आख्यान करती हैं । यथा - ड्याप्प्रातिपदिकात्"[4] इस सूत्र पर "ड्याप्प्रातिपदिक ग्रहणमगभपदसंज्ञार्थमिति" वार्त्तिकम् । इस प्रकार से अनेकों वार्तिक अन्वाख्यान कोटि में आ जाती है । कुछ वार्त्तिकें सूत्रों एवं सूत्रांशों के अन्यार्थ

---

1. महाभाष्य 3/1/12, भाग 2.
2. भाष्य - कीoसंoभाo 1, पृष्ठ 22.
3. अष्टाध्यायी 5/1/119.
4. वही, 8/1/72.

उत्पादन में सूत्र के प्रतिकूल चलती है । यथा - "गर्हायां लडपि जात्वोः"[1] इस सूत्र में "गर्हायां लडविधानानर्थक्यं क्रियासमाप्ति विवक्षितत्वात्" । यहाँ पर कुछ क्रियमाण को प्रेरित करती है । कुछ क्रियमाण का खण्डन । इस प्रकार यह वार्त्तिकों की चौथी विधि प्रदर्शित की गई है । कुछ वार्त्तिक सूत्र के द्वारा विहित कार्य करती है । सूत्र में असंग्रह्य लक्षणों का संग्रह करती है । इस प्रकार की वार्त्तिकें चौथी विधि में आती हैं । यथा - "समोगम्यृच्छिभ्याम्"[2] इस सूत्र में "केलिमर उपसंख्यानमिति" । इस प्रकार की ही वार्त्तिकें पाणिनि के द्वारा अनुक्त उसी से नवीन विधान योजना के द्वारा, पाणिनि सूत्रों के द्वारा अन्वाख्यान शब्दों का साधुत्व अन्वाख्यान के द्वारा वस्तुतः पाणिनि व्याकरण उपकृत्य करती है । इस प्रकार से व्याख्यान, अन्वाख्यान, क्रियमाण, प्रत्याख्यान क्रियमाण विधानात्मक वचनों वाली वार्त्तिकों को संक्षेप में निकृष्ट वार्त्तिक स्वरूप कह सकते हैं । ये इस प्रकार के सभी वचन लक्ष्य में प्रवृत्ति अनुरूप स्थलों में "वृत्तौ साधु वार्त्तिकमिति" वार्त्तिक पद की व्युत्पत्ति भी अनुस्यूत होती है । विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा गया है कि वार्त्तिक का लक्षण यही है कि जो सूत्रार्थ को बढ़ावे । जैसा कि वहाँ पर प्रयोजन, संशय, निर्णय, व्याख्याविशेष, गुरु, लाघव, कृतव्युदास और अकृतशासन ये आठ प्रकार वार्त्तिक के बताए गए हैं । इनमें से आदि की तीन विधियाँ अन्वाख्यानात्मिका हैं चौथी, पंचमी और छठीं विधि व्याख्यानात्मिका है । सातवीं प्रत्याख्यानात्मिका और आठवीं अक्रियमाण की प्रेरिका है ।

---

1. अष्टाध्यायी, 4/1/1.
2. वही, 3/3/142.

कात्यायनीय व्याकरण वार्त्तिक लक्ष्यीकृत ही लक्षित होती हैं । हमने भी इन्हीं वार्त्तिकों को सम्मुख रखकर वार्त्तिक के स्वरूप पर विचार किया है क्योंकि इन्हीं वार्त्तिकों में कतिपय वार्त्तिकें प्रस्तुत शोध में दर्शायी गई हैं ।

वार्त्तिकों के लिए वैयाकरण वाङ्मय में वाक्य, व्याख्यान सूत्र, भाष्यसूत्र, अनुतन्त्र और अनुस्मृति शब्दों का व्यवहार होता है ।

कात्यायन

पाणिनीय व्याकरण पर जितने वार्त्तिक लिखे गए, उनमें कात्यायन का वार्त्तिक पाठ ही प्रसिद्ध है । महाभाष्य में मुख्यतया कात्यायन के वार्त्तिकों का व्याख्यान है । पतञ्जलि ने महाभाष्य में दो स्थलों में कात्यायन को स्पष्ट शब्दों में 'वार्त्तिककार' कहा है ।[1]

पुरुषोत्तम देव ने अपने त्रिकाण्डशेष कोष में कात्यायन के 1. कात्य 2. कात्यायन, 3. पुनर्वसु, 4. मेधाजित् 5. वररुचि नामान्तर लिखे हैं ।

कात्य पद गोत्रप्रत्ययान्त है । इससे स्पष्ट है कि कात्य वा कात्यायन का मूल पुरुष 'कत' है । स्कन्दपुराण नागर खण्ड अ0 130 श्लोक 71 के अनुसार एक कात्यायन याज्ञवल्क्य का पुत्र है । इसने वेदसूत्र की रचना की थी ।[2] स्कन्द

---

1. न स्म पुराद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह । स्मादिविधिः-------- । इति 3/2/118. सिद्धे त्वेवं यत्त्विदं ------- 7/1/1.

2. कात्यायनसुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्

में ही इस कात्यायन को यज्ञविद्याविचक्षण भी कहा है, और उसके वररुचि नामक पुत्र का उल्लेख किया है ।[1] याज्ञवल्क्य-पुत्र कात्यायन ने ही श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्ल यजु:पार्षद् आदि सूत्र ग्रन्थों की रचना की है । यह कात्यायन कौशिक पक्ष का है । इसने वाजसनेयों के आदित्यायन को छोड़कर अङ्गिरसायन[2] स्वीकार कर लिया था । वह स्वयं प्रतिज्ञा परिशिष्ट में लिखता है - एवं वाजसनेयानामङ्गिरसां वर्णानां सो हं कौशिकपक्ष: शिष्य: पार्षद: प चदशसु तत्तच्छाखासु साधीयक्रम: ।[3]

नागेश भट्ट के मतानुसार कात्यायन पाणिनि का साक्षात् शिष्य है । कात्यायन दक्षिणात्य का निवासी था । यदि कात्यायन पाणिनि का शिष्य था तो वार्त्तिककार पाणिनि से कुछ उत्तरवर्ती होगा या पाणिनि का समकालीन होगा । अत: वार्त्तिककार कात्यायन का काल विक्रम से लगभग 2900-3000 वर्ष पूर्व है ।

वार्त्तिक पाठ

कात्यायन का वार्त्तिक पाठ पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्व पूर्ण अङ्ग है । इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है । पतञ्जलि ने कात्यायनीय वार्त्तिकों के आधार पर अपना महाभाष्य रचा है । कात्यायन का

---

1. कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम् । पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागर: । अ0 131, श्लोक 48, 49.
2. वाजसनेयों के दो अयन हैं - द्वयान्येव यजूंषि, आदित्यानामङ्गिरसानां च । प्रतिज्ञासूत्र कण्डिका 6, सूत्र 4.
3. प्रतिज्ञापरिशिष्ट, अण्णाशास्त्री द्वारा प्रकाशित, कण्डिका 31, सूत्र 5.

वार्त्तिक पाठ स्वतंत्र रूप से सम्प्रति उपलब्ध नहीं होता । महाभाष्य से भी कात्या।यन के वार्त्तिकों की निश्चित संख्या की प्रतीति नहीं होती क्योंकि उसमें बहुत अन्य वार्त्तिककारों के वचन भी संग्रहीत है । भाष्यकार ने प्राय: उनके नाम का निर्देश नहीं किया । कात्यायन के वार्त्तिकों को सामान्यतया चार भागों में विभक्त किया जा सकता है - 1. व्याख्यान वार्त्तिक, 2. प्रयोजन वार्त्तिक, 3. प्रत्याख्यान वार्त्तिक, 4. विधान वार्त्तिक ।

वार्त्तिक नाम से व्यवहृत ग्रन्थों के दो प्रकार - एक वार्त्तिक वे हैं, जिनकी रचना सूत्रों में हुई, और उन पर भाष्य रचे गए । इसीलिए कात्यायनीय वार्त्तिक वार्त्तिकों के लिए भाष्यसूत्र शब्द का व्यवहार होता है । यह प्रकार केवल व्याकरण शास्त्र में उपलब्ध होता है । दूसरे वार्त्तिक ग्रन्थ वे हैं, जिनकी भाष्यों पर रचना की गई । जैसे - न्याय भाष्य वार्त्तिक ।

वार्त्तिकों के भाष्यकार तथा भाष्य का लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय खण्ड के चतुर्थाध्याय में भाष्य का लक्षण इस प्रकार लिखा है -

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यै: सूत्रानुसारिभि: ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु: ।।"

अर्थात् जिस ग्रन्थ में सूत्रार्थ, सूत्रानुसारी वाक्यों, = वार्त्तिकों तथा अपने पदों का व्याख्यान किया जाता है, उसे भाष्य को जानने वाले भाष्य कहते हैं ।

पतञ्जलि-रचित महाभाष्य में दो स्थलों पर लिखा है -

'उक्तो भावभेदोभाष्ये'।[1]

इस पर कैयट आदि टीकाकार लिखते हैं कि यहाँ 'भाष्य' पद से 'सार्वधातुके यक्' सूत्र के महाभाष्य की ओर संकेत है परन्तु हमारा विचार है कि पतञ्जलि का संकेत किसी प्राचीन भाष्य-ग्रन्थ की ओर है। इसमें निम्न प्रमाण है -

1. महाभाष्य के 'उक्तो भावभेदो भाष्ये' वाक्य की तुलना 'संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्' 'संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे' इत्यादि महाभाष्यस्थ वचनों से ही की जाए; तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में संग्रह के समान कोई प्राचीन 'भाष्य' ग्रन्थ अभिप्रेत है। अन्यथा पतञ्जलि अपनी शैली के अनुसार 'उक्तो भावभेदो भाष्ये' न लिखकर 'उक्तम्' शब्द से संकेत करता है।

2. भर्तृहरि वाक्यपदीय 2/42 की स्वोपज्ञव्याख्या में भाष्य के नाम से एक पाठ उद्धृत करता है - स चायं वाक्यपदयोराधिक्यभेदो भाष्य एवोपव्याख्यातः। अतएव तत्र भवान् आह - 'यथैकपदगतप्रातिपदिके ------- हेतुराख्यायते। यह पाठ पातञ्जलि महाभाष्य में उपलब्ध नहीं होता।

3. भर्तृहरि महाभाष्यदीपिका में दो स्थलों पर वार्त्तिकों के लिए 'भाष्यसूत्र' पद का प्रयोग करता है। पाणिनीय सूत्रों के लिए 'वृत्तिसूत्र' पद का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। भाष्य सूत्र और वृत्ति सूत्र पदों की पारस्परिक तुलना

---

1. 3/3/19, 3/4/67.

व्यक्त होता है कि पाणिनीय सूत्रों पर केवल वृत्तियाँ ही लिखी गईं थीं, अतएव उनका वृत्तिसूत्र' पद से व्यवहार होता है। वार्त्तिकों पर सीधे भाष्य ग्रन्थ लिखे गए, इसलिए वार्त्तिकों को 'भाष्यसूत्र' कहते हैं। वार्त्तिकों के लिए 'भाष्यसूत्र' नाम का व्यवहार इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि वार्त्तिकों पर जो व्याख्यान ग्रन्थ रचे गए, वे 'भाष्य' कहलाते थे।

भाष्यकार पतञ्जलि

वार्त्तिकों पर अनेक विद्वानों ने भाष्य लिखे परन्तु उनके भाष्य पूर्णतया अनुपलब्ध हैं। महामुनि पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण पर एक महती व्याख्या लिखी है। यह संस्कृत भाषा में 'महाभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में भाष्यकार ने व्याकरण जैसे दुरूह और शुष्क समझे जाने वाले विषय को सरल और सरस रूप में प्रदर्शित किया है। अर्वाचीन वैयाकरण जहाँ सूत्र, वार्त्तिक और महाभाष्य में परस्पर विरोध समझते हैं वहाँ महाभाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में पतञ्जलि को गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत, शेषराज, शेषाहि, चूर्णिकार और पदकार नामों से स्मरण किया है। पतञ्जलि ने महाभाष्य जैसे विशालकाय ग्रन्थ में अपना किञ्चन्मात्र परिचय नहीं दिया। इसलिए पतञ्जलि का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारमय है। महाभाष्य के कुछ व्याख्याकार गोणिकापुत्र शब्द का अर्थ पतञ्जलि मानते हैं। यदि यह ठीक हो तो पतञ्जलि की माता का नाम 'गोणिका' होगा परन्तु यह हमें ठीक प्रतीत नहीं होता। कुछ ग्रन्थकार 'गोनर्दीय' को पतञ्जलि का पर्याय मानते हैं यदि उनका मत प्रामाणिक हो

तो महाभाष्यकार की जन्मभूमि गोनर्द होगी । पत जलि का समय लगभग 2000 वि0पू0 के बाद का तथा 1200 वि0पू0 के पहले का माना जाता है ।

महाभाष्य व्याकरण शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है । समस्त पाणिनीय वैयाकरण महाभाष्य के सन्मुख नतमस्तक हैं । महामुनि पत जलि के काल में पाणिनीय और अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों की महती ग्रन्थराशि विद्यमान थी। पत जलि ने पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यानमिष से महाभाष्य में उन समस्त ग्रन्थों का सारसंग्रहित कर दिया । महाभाष्य का सूक्ष्म पर्यालोचन करने से विदित होता है कि यह ग्रन्थ केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है अपितु समस्त विद्याओं का आकार ग्रन्थ है । अतएव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ‡2/486‡ में लिखा है -

कृते थ पत जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।

सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर प्राचीन अर्वाचीन अनेक आचार्यों ने वृत्ति ग्रन्थ लिखे हैं । पत जलि विरचित महाभाष्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उसके पूर्व अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियों की रचना हो चुकी थी । नागेशकृत 'उद्योत की छाया टीका' के आरम्भ में 'षड्विधा व्याख्या' का निर्देश मिलता है । इन वचन से स्पष्ट है कि सूत्र ग्रन्थों के प्रारम्भिक व्याख्यानों में पदच्छेद, पदार्थ, समास-विग्र अनुवृत्ति, वाक्ययोजना = अर्थ, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पूर्वपक्ष और समाधान ये अंश

प्राय: रहा करते थे। इसी प्रकार के लघु-व्याख्यान रूप ग्रन्थ 'वृत्ति' शब्द से व्यवहृत होते हैं।

महाभाष्य के पश्चात् अष्टाध्यायी की जितनी वृत्तियाँ लिखी गईं उनका मुख्य आधार पातञ्जल महाभाष्य है। पतञ्जलि ने पाणिनीयाष्टक की निर्दोषता सिद्ध करने के लिए जिस प्रकार अनेक सूत्रों वा सूत्रांशों का परिष्कार किया, उसी प्रकार उसने कतिपय सूत्रों की वृत्तियों का भी परिष्कार किया।

अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियाँ लिखी गईं परन्तु उनमें काशिका वृत्ति का उल्लेख करना ही हमें अभीष्ट है अत: हम आगे उसका ही विवेचन करेंगे।

काशिका

वर्तमान समय में काशिका का जो संस्करण प्राप्त होता है उसमें प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य विरचित है और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत है। जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी न्यास-व्याख्या दोनों की सम्मिलित वृत्ति पर रची है। दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण, क्यों और कब हुआ यह अज्ञात है। 'भाषावृत्ति' आदि में 'भागवृत्ति' के जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उनमें जयादित्य और वामन की सम्मिश्रित वृत्तियों का खण्डन उपलब्ध होता है। अत: यह सम्मिश्रण भागवृत्ति बनने (वि०सं० 600) से पूर्व हो चुका था, यह निश्चित है। काशिका के व्याख्याता हरदत्त मिश्र और रामदेव मिश्र ने लिखा है -

'काशिका देशतो ऽभिधानम्, काशीषु भवा'।

अर्थात् काशिका वृत्ति की रचना काशी में हुई । उज्ज्वल दत्त और सृष्टिधर का भी यही मत है । काशिका के लिए 'एकवृत्ति' और 'प्राचीन वृत्ति' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है ।

काशिका वृत्ति व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसमें निम्न विशेषताएँ हैं :-

काशिका से प्राचीन कुणि आदि वृत्तियों में गणपाठ नहीं था । इसमें गणपाठ का यथास्थान सन्निवेश है । अष्टाध्यायी की प्राचीन 'विलुप्त वृत्तियों' और ग्रन्थकारों के अनेक मत इस ग्रन्थ में उद्धृत है जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। इसमें अनेक सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखी है । अतः उनसे वृत्तियों के सूत्रार्थ को जानने में पर्याप्त सहायता मिलती है । काशिका में जहाँ-जहाँ महाभाष्य से विरोध है वहाँ-वहाँ काशिकाकार का लेख प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार है । आधुनिक वैयाकरण महाभाष्य विरुद्ध होने से उन्हें हेय समझते हैं काशिकान्तर्गत उदाहरण - प्रत्युदाहरण प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार है जिनसे प्रागैतिहासिक तथ्यों का ज्ञान होता है । काशिका ग्रन्थ साम्प्रदायिक प्रभाव से भी मुक्त है ।

काशिका जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं वे निम्न हैं :-

1. <u>जिनेन्द्र बुद्धि</u> - जिनेन्द्र बुद्धि ने काशिका पर अपनी जो टीका लिखी वे काशिका विवरणपंजिका' और दूसरी 'न्यास' सबसे प्राचीन है ।

2. इन्दुमित्र - इन्दुमित्र नाम के वैयाकरण ने काशिका की एक 'अनुन्यास' नाम की व्याख्या लिखी थी ।

3. विद्यासागर मुनि - विद्यासागर मुनि ने काशिका की 'प्रक्रियामंजरी' नाम की टीका लिखी ।

4. हरदत्त मिश्र - हरदत्त मिश्र ने काशिका की 'पदमंजरी' नाम की व्याख्या लिखी है ।

5. रामदेव मिश्र - ने काशिका की 'वृत्तिप्रदीप' नाम की व्याख्या लिखी ।

पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकार

पाणिनीय व्याकरण के पश्चात् कातन्त्र आदि अनेक लघु व्याकरण प्रक्रिया क्रमानुसार लिखे गए हैं । इन व्याकरणों की प्रक्रियानुसार रचना होने से इनमें यह विशेषता है कि छात्र इन ग्रन्थों का जितना मार्ग अध्ययन करके छोड़ देता है, उसे उतने विषय का ज्ञान हो जाता है । पाणिनीय अष्टाध्यायी आदि व्याकरणों के सम्पूर्ण ग्रन्थ का जब तक अध्ययन न हो, तब तक किसी एक विषय का भी ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसमें प्रक्रियाक्रमानुसार प्रकरण रचना नहीं है । अल्पमेधस और लाघव प्रिय व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण को छोड़कर कातन्त्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे, तब पाणिनीय वैयाकरणों ने भी उसकी रक्षा के लिए अष्टाध्यायी की प्रक्रियाक्रम से पठन-पाठन की नई प्रणाली का आविष्कार किया । विक्रम की 16वीं शताब्दी के पश्चात् पाणिनीय व्याकरण का समस्त पठन-पाठन प्रक्रिया-

ग्रन्थानुसार होने लगा । इसी कारण सूत्रपाठ क्रमानुसारी पठन-पाठन धीरे-धीरे उच्छिन्न हो गया ।

अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे हैं । उनमें से प्रधान ग्रन्थकारों का वर्णन आगे किया जाता है -

1. धर्मकीर्ति [सं0 1140 वि0 के लगभग]

अष्टाध्यायी पर जितने प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे गये, उनमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'रूपावतार' इस समय उपलब्ध होता है । इस ग्रन्थ का लेखक बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति है । धर्मकीर्ति ने अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरणों के उपयोगी सूत्रों का संकलन करके रचना की है ।

'रूपावतार' का काल वि0सं0 1140 के लगभग माना जाता है । 'रूपावतार' पर अनेक टीकाग्रन्थ भी लिखे गए ।

2. रामचन्द्र [1450 वि0 लगभग]

रामचन्द्र ने पाणिनीय व्याकरण पर 'प्रक्रिया कौमुदी' नाम का ग्रन्थ लिखा । यह धर्मकीर्ति विरचित 'रूपावतार' से बड़ा है । परन्तु इसमें अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का निर्देश नहीं है । पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के जिज्ञासु व्यक्तियों के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई है । इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन प्रक्रिया ज्ञान कराना है ।

रामचन्द्राचार्य का वंश शेष वंश कहलाता है । शेष वंश व्याकरण ज्ञान के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है । रामचन्द्र के पिता का नाम 'कृष्णाचार्य' था । रामचन्द्र के पुत्र 'नृसिंह' ने धर्मतत्त्वालोक के आरम्भ में रामचन्द्र को आठ व्याकरणों

का ज्ञाता और साहित्यरत्नाकार लिखा है । रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ के निर्माणकाल का उल्लेख नहीं किया ।

3. विमल सरस्वती ॥1400 वि0॥

विमल सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की प्रयोगानुसारी 'रूपमाला' नाम की व्याख्या लिखी है । इस ग्रन्थ में समस्त पाणिनीय सूत्र व्याख्यात नहीं है । रूपमाला का काल सं0 1400 से प्राचीन माना जाता है । रूपमाला ग्रन्थ में विमल सरस्वती ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय का क्रम दिया । पहले प्रत्याहार, संज्ञा और परिभाषा के सूत्रों को और उसके बाद स्वर, प्रकृतिभाव, व्य जन और विसर्ग इन चार भागों में सन्धि के सूत्रों को तथा स्त्री प्रत्यय और कारकों को स्थान दिया। रूपमाला में आख्यात् का प्रकरण विस्तृत है ।

4. शेषकृष्ण ॥1475 वि0 के लगभग॥

नृसिंह पुत्र शेषकृष्ण ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रकाश' नाम्नी व्याख्या लिखी। यह रामचन्द्र का शिष्य और रामचन्द्र के पुत्र नृसिंह का गुरु था । प्रक्रिया कौमुदी प्रकाश का दूसरा नाम 'प्रक्रिया-कौमुदी-वृत्ति' भी है । इसका सं0 1514 का एक हस्तलेख पूना के पुस्तकालय में सुरक्षित है ।

5. भट्टोजि दीक्षित

भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनीय व्याकरण पर 'सिद्धान्त कौमुदी' नाम की प्रयोगक्रमानुसारी व्याख्या लिखी है । इससे पूर्व के रूपावतार रूपमाला और प्रक्रिया कौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था । इस न्यूनता को पूर्ण

करने के लिए भट्टोजि दीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' ग्रन्थ रचा । सम्प्रति समस्त भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन इसी सिद्धान्त कौमुदी के आधार पर प्रचलित है ।

भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी की रचना से पूर्व 'शब्द कौस्तुभ' लिखा था । यह पाणिनीय व्याकरण की सूत्रपाठानुसारी विस्तृत व्याख्या है । भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था । पण्डित राज जगन्नाथ कृत प्रौढ़ मनोरमा खण्डन से प्रतीत होता है कि भट्टोजि दीक्षित ने नृसिंह पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था । भट्टोजी दीक्षित ने भी 'शब्दकौस्तुभ' में प्रक्रियाप्रकाशकार शेषकृष्ण के लिए गुरु शब्द का व्यवहार किया है । दीक्षितजी का समय 1570 से 1650 के मध्य स्वीकार किया गया है ।

भट्टोजि दीक्षित ने स्वयं सिद्धान्त कौमुदी की व्याख्या लिखी है । यह 'प्रौढ़ मनोरमा' के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें प्रक्रिया कौमुदी और उसकी टीकाओं का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है । दीक्षित जी ने 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' पर बहुत बल दिया है । प्राचीन ग्रन्थकार अन्य वैयाकरणों के मतों का भी प्रायः संग्रह करते आ रहे हैं परन्तु भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रक्रिया का सर्वथा उच्छेद कर दिया ।

भट्टोजि दीक्षित कृत 'प्रौढ़मनोरमा' पर उसके पौत्र हरि दीक्षित ने

'वृहच्छब्दरत्न' और 'लघुशब्दरत्न दो व्याख्याएँ लिखी हैं। कई विद्वानों का मत है कि लघु शब्द नागेशभट्ट ने लिखकर अपने गुरु के नाम से प्रसिद्ध कर दिया।

आचार्य वरदराज

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित के शिष्य आचार्य वरदराज ने 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' की रचना की। इनका समय 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वीकार किया गया है। ये भट्टोजिदीक्षित के समकालीन थे। प्रौढ़ जिज्ञासुओं के लिए वरदराजाचार्य ने 'मध्य सिद्धान्त कौमुदी' नामक दूसरा भी ग्रन्थ लिखा। परन्तु 'मध्यकौमुदी' लघु सिद्धान्त कौमुदी की भाँति लोकप्रिय न हो सकी। लघु कौमुदी संक्षेप में है " -------- करोम्यहम्। पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्" की अपनी प्रतिज्ञा में आचार्य वरदराज सर्वथा सफल हैं। परन्तु 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी में न तो विशेष संक्षेप ही हो पाया और न पूरी अष्टाध्यायी ही उसमें समाविष्ट हो पाई है। लघु सिद्धान्त कौमुदी का परिमाण 32 अक्षर के छन्द अनुष्टुप् की सं0 से 1500 है। व्याकरण जिज्ञासु लघु सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन करते हैं और प्रौढ़ मति मध्य सिद्धान्त कौमुदी का ही अध्ययन करना पसन्द करते हैं क्योंकि लगभग 4000 सूत्रों में से 2315 सूत्र तो मध्य सिद्धान्त कौमुदी में भी पढ़ने पड़ते ही हैं। इसके विपरीत लघु सिद्धान्त कौमुदी में कुल 1277 सूत्र ही लिए गए हैं। यह कौमुदी मध्य कौमुदी की अपेक्षा संक्षिप्ततर ही नहीं है अपितु इसका प्रकरण विन्यास क्रम भी अधिक युक्तिसंगत है। यह इस प्रकार है - 1. संज्ञाप्रकरण, 2. सन्धि, 3. सुबन्त, 4. अव्यय, 5. तिङन्त 6. प्रक्रिया, 7. कृदन्त, 8. कारक, 9. समास, 10 तद्धित एवं 11. स्त्री-प्रत्यय। पाणिनीय व्याकरण शास्त्र के प्रविविक्षुओं के लिए यह

ग्रन्थ अमोघ वरदान सिद्ध हुआ है ।

आचार्य वरदराज कृत लघु सिद्धान्त कौमुदी में महर्षि कात्यायन द्वारा रचित वार्त्तिकों का उल्लेख किया गया है । वे वार्त्तिक प्रकरणानुसार इस प्रकार हैं :-

1. संज्ञाप्रकरण - ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यवाच्यम् ।

2. सन्धिप्रकरणम् - यणः प्रतिषेधो वाच्यः, अध्वपरिमाणे च, अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्, प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु, ऋते च तृतीया समासे, प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे, शकन्ध्वादिषुपररूपं वाच्यम्, न समासे, अनाम्नवति नगरीणामिति वाच्यम्, प्रत्यये भाषायां नित्यम्, यवल परे यवला वा, चयो द्वितीयाः शरि पौष्कर सादेरिति वाच्यम्, संपुंकानां सो वक्तव्यः ।

3. सुबन्तप्रकरण - तीयस्य ङित्सु वा, नुम-अचि-र-तृज्वद्भावे भ्यो नुट् पूर्व विप्रतिषेधो वाच्यः, एकतराद् प्रतिषेधो वक्तव्यः, औङ. श्यांप्रतिषेधो वाच्यः, एकतराद् प्रतिषेधो वक्तव्यः, वृद्धयौत्वजवतृज्वद्भावगुणेभ्योनुमपूर्वविप्रतिषेधेन, ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः, परौ व्रजेः षः पदान्ते, एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशावक्तव्याः, एतेवान्नावादयो नन्वादेशे वा वक्तव्याः, अस्य सम्बुद्धौ वा नङ. नलोपश्च वाच्यः, अन्वादेशे नपुंसके एनद वक्तव्यः, सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः ।

4. तिङन्त प्रकरण - दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः, अन्तशब्दस्याङ्-विधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्, सिजलोप एकादेशे सिद्धावाच्यः, कास्येनेकाच आम्वक्तव्य

कमेश्चलेश्चङ. वाच्य:, उर्णोतेरामनेतिवाच्यम् , इर इत्संज्ञा वाच्या, कुग्कुटौ उवङयणो: सिद्धौ वक्तव्यौ, क्डितिरमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्व प्रतिषेधेन, स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्ले: सिज्वा वाच्य:, शे तुम्फादीनां नुम्वाच्य:, मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम्वाच्य:, अड्. अभ्यास-व्यवाये पि सुटकात्पूर्व इति वक्तव्यम् , सर्वप्रातिपदिकेभ्य: क्विब्वा वक्तव्य:, प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलं इष्ठवच्च ।

5. <u>कृदन्त प्रकरण</u> - केलिमर उपसंख्यानम् , मूल-विभुजाडडदिभ्य: क:, क्कि [प्] ब् वचिप्रच्छयायत-स्तु-कटप्र-जु-श्रीणां दीर्घो सम्प्रसारणं च, घ थे क-विधानम् , श्र - ल्वादिभ्य: क्तिन निष्ठावद्वाच्य:, सम्पादिभ्य: क्विप् ।

6. <u>समास प्रकरण</u> - इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च, समाहारे चाश्रयमिष्यते, अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् , सर्वनाम्नो वृत्ति: - मात्रे पुंवद्भाव: द्वन्द्व तत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यमासवचनम् , शाकपार्थिवा दीनां सिद्धये उत्तरपदलोप-स्योपसंख्यानम् , प्रा दयो गताद्यर्थे प्रथमया अत्यादय: कान्ता द्यर्थे द्वितीयया, अवा दय: क्रुष्टा द्यर्थे तृतीयया, पर्यादियोग्लाना द्यर्थे चतुर्थ्या परिग्लानो ध्ययनाय पर्यध्ययन:, निरादय: क्रान्ता द्यर्थे प चम्या, गतिकारकोपपरानां कृद्भि: सह समास-वचनं प्राक् सुबुत्पत्ते: संख्या - पूर्व रात्रल्कीवम् द्विगु-प्राप्रा पन्ना लंपूर्व - गति समासेषु प्रतिषेधो वाच्य:, प्रश्दिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोप:, न ो स्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोप:, धर्मा दिष्वनियम: ।

7. <u>तद्धितप्रकरण</u> - स्वातिभ्यामेव, देवाद्य - अ ौ, बहिषष्टिं लोपो य च, ईकक् च, सर्वत्र गो: [रं] अच् [ज्] आदि प्रसङ्गे यत्, लोम्नो पत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्य:

राज्ञो जातवेव इति वाच्यम् , क्षत्रिय-समानशब्दात-जनपदात्-तस्य राजनि अपत्यवत् पूरोरण वक्तव्यः, पाण्डोडर्यण् , कम्बोजा दिभ्य इति वक्तव्यम् , तिष्य-पुष्ययो-र्नक्षत्रा णि यलोप इति वाच्यम् , भस्या ढे तद्धिते-इति पुंवद्भावे कृते गज सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् , अह्नरव: क्रतौ, अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीतात् च इति वक्तव्यम् , अमेहं क्क-तसि-त्रेभ्य एव, त्यब् ने ध्रुवे इति वक्तव्यम् वा नामधेयस्य वृद्ध-संज्ञा वक्तव्याः, अव्ययानां भ-मात्रे टि-लोपः, अध्यात्मा देः 'ठ ' इष्यते, अश्मनो विकारे टि-लोपो वक्तव्यः, अधर्मात् इति वक्तव्यम् , नाभि नभं च, पृथु-मृदु-मृश-कृश, -दृढ परिवृढानामेवरत्वम् , गुणवचनेभ्यो मतुपो लुण् इष्टः, प्राण्यङ्गाद्र एव, अन्येभ्यो पि दृश्यते, अर्णसोलोपश्च, दृशि ग्रहणाद् भवद्' आदियोग एव, एतदो पि वाच्यः अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम् ओकार-सकार-भकारा दौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच् अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्रागः अकच्, सर्व-प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् , आद्या-दिभ्यस्तसेरूपसंख्यानम् , अभूत-तद्भाव इति वक्तव्यम् विकारा त्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानादविकार शब्दात् स्वार्थेच्विर्वास्यात् करोत्यादिभिर्योगे, अव्ययस्य च्वावीत्वं न इति वाच्यम् डाचि च द्वे बहुलम् , नित्यम् आम्रेडिते डाचि इति वक्तव्यम् न ।

8. <u>स्त्रीप्रत्यय प्रकरणम्</u> - स्न - इकक् - ख्युन-तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम् , आम् अनुडुहः स्त्रियां वा, पालका न्तात् न, सूर्याद् देवतायां चाप वाच्यः, सूर्या गस्त्य-योश्छे चङयां च य-लोपः, हिमा रण्ययोर्महत्त्वे, यवाद दोषे, यवनात् लिप्याम् , मातुलोपाध्याययोः 'आनुक्' वा, आचार्याद् अणत्व, अर्य-क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे, योपध-गवय-मुकयमनुष्यमत्स्यानाम् अप्रतिषेधः, मत्स्यस्यङयाम्, श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च ।

प्रथम प्रकरणम्

संज्ञा प्रकरणम्

ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्[1]

यह वार्त्तिक 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'[2] इस सूत्र के भाष्य में वार्त्तिककार ने 'ऋकार लृकारयोः सवर्ण विधिः' इसे आनुपूर्वी रूप से पढ़ा है। उसी के फलितार्थ रूप से यह वार्त्तिक लघु सिद्धान्त कौमुदी में उपन्यस्त है। यहाँ 'मिथः' यह पद प्रत्यासत्ति न्याय से लब्ध है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए कौमुदीकार ने वार्त्तिक में रखा है। मूलवार्त्तिक में ऋकार, लृकार का किसी अन्य वर्ण के साथ सावर्ण्य नहीं कहा गया है अतः इन दोनों वर्णों का ही परस्पर सावर्ण्य परिशेष-तया सिद्ध होता है। अतः 'मिथः' पद देना संगत है। 'ऋलृवर्णयोः' का विग्रह इस प्रकार है। 'ऋच-ऋच रलौ तौ च वर्णौ ऋलृवर्णौ तयोरिति' अथवा 'ऋच लृवर्णश्च ऋलृवर्णौ तयोरिति।'

पहला व्याख्यान द्वन्द्वगर्भकर्मधारय है। मनोरमाकार[3] ने इसी व्याख्यान को प्रदर्शित किया है। द्वितीय व्याख्यान में 'लृ' शब्द का वर्ण शब्द के साथ ही कर्मधारय है। तत्पश्चात् ऋ के साथ द्वन्द्व है। शेखरकार[4] ने इस व्याख्यान का समर्थन किया है। ऋ लृ इन दोनों वर्णों के प्रथमा के एकवचन में 'ऋ' यह रूप

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी संज्ञा प्रकरणम्, पृष्ठ 17.
2. अष्टाध्यायी, 1/1/9.
3. ऋच ऋच रलौ तौ च तौ वर्णौ चेति विग्रहः। (प्रौढ मनोरमा संज्ञा प्रकरणम्)
4. ऋ च लृवर्णश्चेति विग्रहः। (लघु शब्देन्दु शेखर संज्ञा प्रकरणम्, पृष्ठ 36)।

होता है । इस वार्त्तिक के द्वारा 'ऋ लृ' का स्थान भेद होने से 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र से सवर्ण संज्ञा के प्राप्त न होने पर अपूर्व सवर्ण संज्ञा का विधान होता है । अत: यह वार्त्तिक वाचनिक है, यह स्पष्ट है । महाभाष्य[1] में इस वार्त्तिक का 'होतृ + लृकार: = होतृकार:' यह आपातत: प्रयोजन दिखाया गया है । 'ऋकार' और 'लृकार' की परस्पर सवर्ण संज्ञा के न होने से होतृ + लृकार में सवर्ण दीर्घ नहीं प्राप्त हो सकेगा । सवर्ण संज्ञा हो जाने पर सवर्ण दीर्घ सिद्ध हो जाता है । 'ऋ लृ' के स्थान में उसका अन्तरतम कोई दीर्घ ही होना चाहिए । 'लृ' समुदाय का अन्तरतम कोई दीर्घ नहीं है । मूर्धदन्त स्थानीय कोई एक दीर्घ नहीं होता है अत: 'लृ' के सवर्णी 'ऋ' का द्विमात्रिक 'ॠ' दीर्घ प्रसिद्ध है अत: वही होता है । यह प्रयोजन 'ऋतिऋवा' 'लृतिलृवा' इन दोनों वार्त्तिक को स्वीकार करने से अन्यथासिद्ध हो जाता है । यह भाष्यकार[2] का कथन है सवर्ण संज्ञा सूत्र पर ये दोनों वार्त्तिक पढ़े गए हैं । इन दोनों वार्त्तिकों का व्याख्यान आगे किया जाएगा । 'लृतिलृवा' इस वार्त्तिक में 'वा' ग्रहण से दीर्घ का भी अपूर्व विधान होता है । 'वा' शब्द दीर्घ का समुच्चयक है । 'लृ' परे रहते 'लृ' होता है तथा दीर्घ भी होता है । इस प्रकार वार्त्तिक रीति से 'होतृलृकार'

---

1. 'ऋकारलृकारयो: सवर्ण संज्ञा विधेया । होतॢकार: होतृकार: । किं प्रयोजनम् ? अक: सवर्णे दीर्घ: ' इति दीर्घत्वं यथा स्यात् । ।महाभाष्य 1/1/9।.

2. नैतदस्ति प्रयोजनम् । वक्ष्यत्येतत् 'सवर्ण दीर्घत्वे ऋति ऋवा वचनम्' 'लृतिल्लृवा वचनम्' । ।वही 1/1/9।.

में कदाचित् 'लृ' होगा तथा कदाचित् दीर्घ होगा। वह दीर्घ 'ॠ' ही होगा। अतः 'ऋ लृ' में सवर्ण संज्ञा का प्रयोजन इसी प्रकार गतार्थ हो जाता है। उसके लिए सवर्ण दीर्घ विधि तथा 'ऋ लृ' की सवर्ण संज्ञा की आवश्यकता नहीं है। यह कथन प्रदीप[1] एवं पदमञ्जरी[2] में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यद्यपि 'लृति लृवा' इस वार्त्तिक में सवर्ण पद की अनुवृत्ति आवश्यक है अतः 'होतॄकार' ने पाक्षिक दीर्घ के लिए सवर्ण संज्ञा अपेक्षित है तथापि 'ऋति ऋवा' इस वार्त्तिक में ऋति के स्थान पर 'ऋतः' यह पञ्चम्यन्त पाठ कर देने से उक्त आपत्ति का निरास हो जाता है। जैसे - 'ऋति ऋवा' इसमें सवर्ण के साथ सम्बन्ध होने पर तथा 'ऋति' के स्थान पर 'ऋतः' करने पर 'ऋत' केसवर्णी परे 'ऋ' तथा दीर्घ होता है। 'लृति लृवा' इस वार्त्तिक में 'ऋतः' का सम्बन्ध होता है 'सवर्णे' यह पद निवृत्त हो जाता है। 'ऋत' को 'लृति' परे रहते 'लृ' तथा दीर्घ होता है। यह अर्थ सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार 'होतॄकार' में दीर्घ 'ॠ' सिद्ध हो जाता है। उस समय 'ऋ लृ' की सवर्ण संज्ञा की अपेक्षा नहीं रह जाती है। 'होतॄकार' के प्रयोजन को अन्यथा सिद्ध हो जाने पर 'ऋ लृ' की परस्पर संज्ञा का

---

1. तत्र 'लृवा वचनम्' इत्यत्र दीर्घ इत्यनुवर्तत। तत्र लृति लृ शब्दे विकल्पिते अप्राप्त एव पक्षे दीर्घो भविष्यति। महाभाष्य प्रदीप 1/1/9.

2. तत्र ऋति ऋ + वा वचनमित्यत्र वा शब्दो दीर्घस्य समुच्चयार्थं।
पदमञ्जरी 1/1/9.

प्रयोजन 'ॠत्यक:'[1] 'उपसर्गादृति धातौ'[2], 'वा सुप्यापि शले:'[3] इत्यादि सूत्रों' में 'ॠकार' ग्रहण से 'ॡकार' ग्रहण ही रह जाता है । सवर्ण संज्ञा होने पर ग्रहणकशास्त्र के बल से 'ॠकार' ग्रहण से 'सवर्णी ॡकार' का भी ग्रहण हो जाता है । अत: 'षट्वॡकार:' में 'ॠत्यक:' से प्रकृतिभाव 'उपाल्कारयति' में वा सुप्यापिशले:' सूत्र से पाक्षिक वृत्ति सिद्ध होती है ।

भाष्यकार ने भी कहा है 'ॠकार'[4] के ग्रहण में 'ॡकार' ग्रहण भी सन्निहित होता है ।' 'ॠत्यक:' 'सद्वॠश्य', 'मालॠश्य:' यह भी सिद्ध हो जाता है । सद्वॡकार:, माल ॡकार: इति । 'वासुप्यापि शले:' इससे उपकारीयति, उपाकारीयति तथा यह भी सिद्ध होता है उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति 'ॠकार' 'ॡ' के सवर्ण होने से 'ॠकार' के द्वारा सवर्ण ग्रहण विधि से 'ॡकार' के ग्रहण होने पर भी 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्'[5] 'पुषादिद्युताद्य्लृदित:परस्मैपदेषु'[6] इत्यादि सूत्रों में ॠदित्व, ॡदित्व प्रयुक्त कार्यों का परस्पर साङ्कर्य भी नहीं होता है क्योंकि आणृ, गम्लृ इत्यादि धातुओं में 'ॠ ॡ' का पृथक्-पृथक् अनुबन्ध किया गया है अन्यथा एक ही अनुबन्ध करना चाहिए था । यह तथ्य कैय्यट[7] द्वारा लिखित

---

1. अष्टाध्यायी 6/1/128.
2. वही, 6/1/91.
3. वही, 6/1/92.
4. महाभाष्य 1/1/9.
5. अष्टाध्यायी 7/4/2.
6. वही, 3/1/55.

7. ॠदितां ॡदितां च नेदन्नानुबन्धनिर्देशात् भेदेन चोपादानादनुबन्धा कार्येषु परस्पर ग्रहणाभावात् सङ्कर्यभाव: । [महाभाष्य प्रदीप 1/1/9]

प्रदीप एवं हरदत्तकृत पदमञ्जरी[1] ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से विवेचित है । यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता इस बात की है कि 'ऋकार लृकार' की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा होने पर भी परस्पर 'ग्राहकत्व' सार्वत्रिक नहीं है । 'लृ ऋ' के पृथक अनुबन्ध करण के सामर्थ्य से उपर्युक्त तथ्य निर्धारित किया गया है । अतः 'क्लृप्तशिखः' इत्यादि प्रयोगों में 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' इत्यादि सूत्र से प्लुत सिद्ध हो जाता है अन्यथा 'अनृतः' यह प्रतिषेध हो जाने से प्लुत की सिद्धि नहीं हो सकती थी तथा क्लृप्यमानम्' इत्यादि प्रयोगों में णत्वभाव सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'ऋ' ग्रहण से 'लृ' के भी ग्रहण हो जाने से 'ऋवर्णान्नस्यणत्वम्' इससे जैसे मातृणाम् में 'णत्व' होता है वैसे ही उपर्युक्त प्रयोग में भी होता है । नागेश[2] ने स्पष्ट ही कहा है कि 'पृथक् अनुबन्धकरया सम्बन्ध से अनुबन्ध कार्य के असाङ्कर्य का ज्ञापन न कर 'ऋ लृ' के परस्पर ग्राहकत्व का ही कदाचित्कत्व ज्ञापन करना उचित है । इसी से अनुबन्धकार्या साङ्कर्य भी सिद्ध हो जाता है । कहाँ पर 'ऋ लृ' का ग्राहकत्व है ? कहाँ पर नहीं है ? इसकी लक्ष्यानुसार ही व्यवस्था की जाती है । भाष्यकार ने तो 'ऋवर्णान्नस्यणत्वम्' इस वार्त्तिक में 'ऋकार' ग्रहण से 'लृकार' ग्रहण की अति प्रसक्ति को उद्भावित कर तथा 'क्लृप्यमानम्' इस प्रयोग में

---

1. ऋदितां लृदितां च धातूनां पृथगुपदेशसामर्थ्यादनुबन्धकार्याणाम् सङ्कर्यः ।
पदमञ्जरी 1/9/9.

2. न च 'क्लृउप्तशिखः' इत्यादौ 'अनृत' इति निषेधात् प्लुतानापत्तिः ।
ऋलृवर्णयोः पृथगनुबन्धत्वकरणम क्वचित्परस्पराग्राहकत्वकल्पनेनादोषात् ।
लघुशब्देन्दु शेखर संज्ञा प्रकरणम्, पृष्ठ 36.

णत्व का आपादन कर 'वर्णैकदेशावर्णग्रहणेन गृह्यन्ते' इस न्याय के आश्रयण के द्वारा मातृणाम् इत्यादि प्रयोगों में ऋकार के एकादेश रेफ को ग्रहण कर 'रषाभ्यां नो णः समानपदे'[1] इस सूत्र से णत्व की सिद्धि किया है और ऋवर्णान्नस्य इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है । 'लृवर्णान्नस्य णत्वम्' इस वचन के प्रत्याख्यान कर देने से ही 'क्लृप्यमानम्' इस प्रयोग की णत्वापत्ति वारित हो जाती है । 'ऋलृक' सूत्र के भाष्य में लृकार के प्रत्याख्यान के अवसर पर लिखा है 'वर्णसमाम्नाय में लृकार के उपदेश नहीं रहने पर भी क्लृप्त इत्यादि प्रयोगों में एकदेशविकृतम न्यवत् इस न्याय से ऋकार के द्वारा लृकार के भी ग्रहण होने से 'क्लृप्तशिखः' इत्यादि प्रयोगों में 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्'[2] इस सूत्र से प्लुत नहीं हो पाएगा । इस प्रश्न का समाधान भाष्यकार ने 'अनृतः' इस पद के स्थान पर 'अरवत' ऐसा न्यास करके समाहित किया है । ऋकार के द्वारा लृकार के ग्रहण होने पर भी लृकार में 'अनृत' यह प्लुत प्रतिषेध नहीं लग सकता है । वह प्रतिषेध ऋकार निमित्तक न होकर रेफवत्त्व निमित्तक है । लृकार रेफवान् नहीं है । यही भाष्य का आशय है ।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि ऋकार से लृकार के ग्रहण होने पर जो-जो दोष आए हैं उनका परिहार भाष्यकार ने विविध उपायों से किया है किन्तु पृथक् अनुबन्धकरण को ऋकार लृकार का परस्पर ग्रहण सर्वत्र नहीं होता । इसमें ज्ञापक

---

1. अष्टाध्यायी 8/4/1.   2. अष्टाध्यायी 8/2/86.

नहीं माना है फिर भी 'ऋकार' और 'लृकार' के 'इत्संज्ञा' प्रयुक्त कार्यों में परस्पर साङ्कर्य रोकने के लिए पृथक् अनुबन्धकरण को ज्ञापक मानना आवश्यक है। इतने से ही सभी स्थलों में दोष का निवारण हो जाता है। इसीलिए नागेशभट्ट आदि आचार्यों ने लाघव होने से इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

द्वितीय प्रकरणम्

सन्धि प्रकरणम्

यण: प्रतिषेधो वाच्य: [1]

यह वार्त्तिक 'संयोगान्तस्यलोप:'[2] इस सूत्र के भाष्य में पढ़ा गया है। वहाँ 'संयोगान्तस्य लोपे यण: प्रतिषेध:' 'संयोगादि लोपे च' ये दोनों वार्त्तिक पढ़े गए हैं। इनसे यण् का संयोगादि लोप और संयोगान्तलोप प्रतिषिद्ध होता है। पहले वार्त्तिक में 'यण्' यह पद 'षष्ठयन्त' है। द्वितीय वार्त्तिक में 'प चम्यन्त' है। इस प्रकार प्रथम वार्त्तिक का अर्थ होता है संयोगान्त जो यण है उसका लोप नहीं होता है। द्वितीय वार्त्तिक का अर्थ यण के पूर्व में जो 'सकार' और 'कवर्ग' संयोगादि लोप नहीं होता है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस परिभाषा के रहने पर भी यण् के परे संयोगादि लोप के विषयभूत 'सकार' और 'कवर्ग' नहीं मिलता है। इसलिए यण् के पूर्व 'सकार और कवर्ग' यह अर्थ मानना चाहिए। यण: इसमें पूर्व-संयोगात्व लक्षणा प चमी है। पर योग लक्षणा नहीं है क्योंकि परत्व का बाध है। 'यण: प्रतिषेधो वाच्य:' इस संयोगान्त लोप प्रतिषेधक वार्त्तिक का सिद्धान्त कौमुदी में 'सुधी उपास्य:', 'दध्यत्र, मध्वत्र यह उदाहरण दिया गया है। संयोगादि लोप प्रतिषेधक द्वितीय वार्त्तिक का उदाहरण 'काक्यर्थं वास्यर्थं' यह दिया गया है। यहाँ पर 'काक्यवास्य' जो पद उसके अन्त में जो ककार यकार तथा सकार यकार का संयोग उसके आदि में विद्यमान सकार ककार का लोप प्राप्त

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अच् सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 31.

होता है, उसका निषेध उस वार्त्तिक से होता है । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य वरदराज ने लघु सिद्धान्त कौमुदी में 'यण: प्रतिषेधो वाच्य:' यह वार्त्तिक का स्वरूप लिखा है । महाभाष्य में लिखित वार्त्तिक का स्वरूप ऊपर दिखाया जा चुका है । श्रीवरदराज का यह आशय है कि 'काक्यर्थं वास्यर्थं' इत्यादि प्रयोगों में 'सकार ककार' के लोप का प्रतिषेध करने वाले वार्त्तिक की आवश्यकता नहीं है । यहाँ पर 'स्थानिवत भाव' कर देने से संयोगादि लोप का वारण हो जाता है । अत: संयोगान्तलोप का निषेधक प्रथम वार्त्तिक ही करना चाहिए । संयोगादि लोप प्रतिषेधक वार्त्तिक के आरम्भ पक्ष में यह बात कही जा सकती है कि 'काक्यर्थं वास्यर्थं' इत्यादि में 'स्थानिवत् भाव' से इष्ट सिद्धि होने पर भी ऐसे स्थल पर 'स्थानिवत् भाव' की प्रवृत्ति के लिए 'तस्य दोष:' 'संयोगादि लोप लत्वणत्वेषु' इस वचन का जैसे आरम्भ है उसी प्रकार से संयोगादि लोप निषेधक इस वार्त्तिक वचन का आरम्भ किया जा सकता है क्योंकि एक उपाय दूसरे उपाय को दूषित नहीं कर सकता है अर्थात् 'काक्यर्थं वास्यर्थं' यहाँ सकार ककार' के लोप का निषेध 'स्थानिवत् भाव' से अथवा 'संयोगादि लोपे च' इस वार्त्तिक के द्वारा किया जा सकता है । ये सारी बातें इसी सूत्र के प्रदीप[1] और उद्योत[2] ग्रन्थों में

---

1. काक्यर्थमिति । 'तस्य दोष: संयोगादिलोपलत्वणत्वेष्विति वचनात् स्थानिवद् भावादपि परिहर्तुं शक्य:' महाभाष्य प्रदीप 8/2/23.

2. 'तस्यदोष इति । एवञ्च तदनाश्रयणेदमितिभाव: ।' महाभाष्य उद्योत 8/2/23.

स्पष्ट है । वस्तुत: 'यण: प्रतिषेधो वाच्य:' संयोगादि लोप विषयक वार्त्तिक भी प्रकारान्तर से सिद्ध लोपभाव का अनुवादक मात्र है कोई अपूर्व वचन नहीं है । इसीलिए मनोरमाकार ने वाच्य: का अर्थ 'व्याख्येय:' ऐसा कहा है । वार्त्तिककार ने भी संयोगान्त यण लोप के निषेध के लिए अपूर्व वचन की जगह पर उपायान्तर का भी प्रदर्शन किया है जैसे – 'नवाझलोलोपात् विधाना बहिरङ्गलक्षणत्वाद वा' इन दो वार्त्तिकों से संयोगान्त लोप का प्रतिषेधक हो जाता है । भाष्यकार ने भी इन दोनों वार्त्तिकों के व्याख्यान में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'यण: प्रतिषेधो वाच्य:' इस अपूर्व वचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'संयोगान्तस्य लोप:' 'संयोगान्त झल' का ही लोप करता है । यण् झल के बाहर है अत: उसका लोप नहीं हो सकता । महावैय्याकरण कैय्यट[1] के मतानुसार झल् ग्रहण का सम्बन्ध संयोगादि लोप तथा संयोगान्त लोप दोनों में होता है । अन्तर इतना है कि 'झल:' यह पद 'संयोगान्त लोप' में 'षष्ठयन्त' होकर तथा 'संयोगादिलोप' में 'पञ्चम्यन्त' रूप से सम्बद्ध होता है किन्तु नागेश[2] भट्ट के मतानुसार 'झल' ग्रहण का

---

1. न वेति । झलोझलीत्यत: सिंहावलोकित न्यायेन झल्ग्रहणमिहाऽनुवर्तते । तत्र षष्ठया विपरणम्यत इति यणोऽलोपाभाव: । 'स्को: संयोगाद्योरित्यत्र तु पञ्चम्यन्तमेव सम्बध्यते, तेन झल: पूर्वयो: स्कोर्लोपविधानाद्यण: पूर्वयोर्लोपाऽभाव: । ' महाभाष्य प्रदीप 8/2/23.

2. वस्तुतस्तु झल्ग्रहणस्य संयोगान्तलोप सूत्रं एव सम्बन्धो न तु स्कोरित्यत्र 'झलोलोप: संयोगान्तलोप' इति भाष्य स्वरसादित्याहु:' महाभाष्य उद्योत 8/2/23.

सम्बन्ध केवल 'संयोगान्त लोप' में ही होता है । यहाँ पर कैय्यट[1] और सिद्धान्त कौमुदीकार दीक्षितजी का मत समान है क्योंकि 'संयोगान्तस्य लोप:' इस सूत्र से 'झल' पद की अनुवृत्ति से संयोगान्त 'झल्' का ही लोप होता है अतएव भट्टोजी[1] दीक्षित ने लिखा है - 'झलोझलि'[2] 'झलग्रहणमप्यकृष्यसंयोगान्तस्य झलोलोप विधानात' 'बहिरङ्गलक्षणत्वात् वा' इस वार्त्तिक से भी यण् का प्रतिषेध सम्भव हो जाता है । इसका यह भाव है 'यण: प्रतिषेधो वाच्य:' यह वार्त्तिक करने की आवश्यकता नहीं है । यण् के बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जाने के कारण संयोगान्त लोप नहीं होगा। जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है 'यणादेश बहिरङ्ग' है लोप अन्तरङ्ग है, अन्तरङ्ग की दृष्टि बहिरङ्ग असिद्ध होता है ।' पदद्वय और वर्णद्वय के सम्बन्धी होने से यणादेश बहिरङ्ग है । पदद्वय मात्र सम्बन्धी होने से लोप अन्तरङ्ग है । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा छठवें अध्याय के सूत्र पर ज्ञापित है अत: उसकी दृष्टि में त्रैपादिक अन्तरङ्ग शास्त्र असिद्ध हो जाता है । फिर भी यथोदेश पक्ष में त्रैपादिक कार्य में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानी गई है । शेखरकार के मत से कार्यकाल पक्ष में भी त्रैपादिक अन्तरङ्ग कार्य में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानी गई है । अत: यथोदेश और कार्य का दोनों पक्षों में संयोगान्त यण् लोप का प्रतिषेध सम्भव हो जाता है अत: 'यण: प्रतिषेधो वाच्य:' यह वाक्य अपूर्व नहीं है अपितु 'यण: प्रतिषेधो व्याख्येय:' इस अर्थ का प्रतिपादक है ।

---

1. प्रौढ मनोरमा अच्सन्धि प्रकरणम् , पृष्ठ 131.

2. अष्टाध्यायी 8/2/26.

अध्वपरिमाणे च[1]

'वान्तोयि प्रत्यये'[2] इस सूत्र भाष्य में 'गोर्यूतौ छन्दसि' तथा 'अध्व परिमाणे च' ये दोनों वार्त्तिक पढ़े गए हैं। प्रथम वार्त्तिक में 'उपसंख्यानम्' यह पद अधिक जोड़ा गया है। द्वितीय वार्त्तिक इसी रूप में पढ़ा गया है। इस वार्त्तिक के द्वारा 'यूति' शब्द परे रहते 'गो' शब्द के 'ओकार' को वेद में 'वान्त' ॥अ व्॥ आदेश होता है। इसका उदाहरण है 'आनोमित्रावरुणाघृतैर्गव्यूतीमुक्षतम्' भाष्य में दिया गया है।

'अध्वपरिमाणे च' इस द्वितीय वार्त्तिक में प्रथम वार्त्तिक से 'गोर्यूतौ' का सम्बन्ध होता है। इसका अर्थ है - गो शब्द घटक ओकार को यूति शब्द परे रहते मार्ग का परिमाण गम्यमान हो तो वान्त ॥अ व॥ आदेश होता है। यह वार्त्तिक 'अध्वपरिमाण' अर्थ में गो शब्द की यूति परे रहते लोप में भी वान्त ॥अ व्॥ आदेश विधान करने के लिए है। वेद में अध्वपरिमाण अर्थ में भी पूर्व वार्त्तिक से वान्त ॥अ व्॥ आदेश सिद्ध होता है। इसी अर्थ के अभिप्राय से हरदत्त ने कहा है कि 'अध्वपरिमाणे च' यह वार्त्तिक लौकिक प्रयोग के लिए है। न्यासकार ने भी कहा है कि यह वचन सामान्यत: है। इससे लोक में भी वान्त ॥अ व्॥ आदेश सिद्ध होता है। इस प्रकार यह वार्त्तिक भाषा में पूर्व वार्त्तिक से अप्राप्त वान्त ॥अ व्॥ आदेश के विधान के लिए है और वह अध्वपरिमाण में ही

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 35.
2. अष्टाध्यायी 6/1/79.

होता है । इसलिए इस वार्त्तिक का उदाहरण भाष्यकार ने दिया है - 'गव्यूतिम-ध्वानंगत: गोयूतिमित्येवान्यत्र' यहाँ अन्यत्र का अर्थ है कि 'अध्व परिमाण' से अन्य अर्थ में वान्त (अ व्) आदेश नहीं होता है । इस प्रकार वेद में अध्व परिमाण का अर्थ में अथवा अन्य अर्थ में भी गो शब्द को यूति परे रहते वान्त (अ व्) आदेश ही होता है । अत: गव्यूति ही साधु है । लोक में अध्वपरिमाण अर्थ में ही वान्त (अ व्) आदेश होकर गव्यूति साधु है अन्य अर्थ में गो यूति साधु है । यही दोनों वार्त्तिकों का निष्कर्ष है । ये दोनों वार्त्तिक प्रकारान्तर से असिद्ध वान्त (अ व्) आदेश के विधान के लिए वाचनिक ही है । न्यासकार ने इन दोनों वार्त्तिकों को सूत्र से ही गतार्थ कर दिया है । उनका कथन है कि वार्त्तिक घटक वक्तव्य शब्द का व्याख्येय अर्थ है । उसका व्याख्यान इस प्रकार है । 'वान्तोयि प्रत्यये' इस सूत्र का योग विभाग करना चाहिए । 'वान्तोयि' यह एक योग अलग है । इसका अर्थ है 'गो शब्द यूति परे रहते छन्द में अवादेश होता है ।' 'प्रत्यये' इस दूसरे योग में यादि प्रत्यय परे रहते एच को वान्त (अ व्) आदेश होता है । यह अर्थ है इससे गव्यम् नाव्यम् की सिद्धि हो जाती है पहले योग से यकार मात्र परे रहते वान्त (अ व्) आदेश का विधान होता है । दूसरे योग के द्वारा पहले योग के अर्थ में क्वचिद्कत्व (अनित्यत्व) का ज्ञापन होता है । इस प्रकार यदि प्रत्यय परे रहते सर्वत्र वान्त (अ व्) आदेश होता है । प्रत्यय से अति-रिक्त यादि परे रहते कहीं-कहीं वान्त (अ व्) आदेश होता है । क्वचिद् पद से इष्ट स्थल के अनुरोध योग विभाग के अनुरोध से उक्त दोनों वार्त्तिकों के ही विषय लिए जाएंगे । इस तरह दोनों वार्त्तिकों को करने [illegible]कता[illegible] है ।

किन्तु न्यासकार की यह अपनी उत्प्रेक्षा है । भाष्यकार ने इस प्रकार के योग विभाग का कहीं उल्लेख नहीं किया है । अपितु वचन रूप से इन दोनों वार्त्तिकों का व्याख्यान किया है । अतः भाष्यकार का वचन आदरणीय है ।

अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्[1]

वृद्धि प्रकरण में 'एत्येधत्यूठ्सु'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। इसी वार्त्तिक में 'उपसंख्यानम्' पद जोड़कर परवर्ती आचार्यों द्वारा इसे वर्तमान स्वरूप दिया है। इस वार्त्तिक में भी 'आत्' और 'अच्' इन दोनों पदों का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार 'अक्ष' शब्द घटक अकार से 'ऊहिनी' शब्द 'घटक अच्' परे रहते पूर्व परके स्थान में वृद्धि एकादेश' होता है। यह वार्त्तिक का अर्थ निष्पन्न होता है। आत् और अच् इन दोनों पदों का सम्बन्ध न होने पर 'अक्ष' शब्द से परे 'ऊहिनी' शब्द रहने पर पूर्व पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है इतना ही अर्थ होता। तब 'अक्ष + ऊहिनी' इस प्रयोग में पूर्व पर दोनों पदों के स्थान पर अर्थात् अक्ष और ऊहिनी इन दोनों के स्थान पर एकादेश होने लगता। 'आत् अचि' इन दोनों पदों का सम्बन्ध करने पर यह दोष निरस्त हो जाता है क्योंकि पूर्व पर पद घटक अन्त और आदि वर्णों के ही स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। इसी प्रकार का व्याख्यान 'स्वादीरेरिणोः' इत्यादि अग्रिम वार्त्तिकों में भी समझना चाहिए। 'अक्षौहिणी' यह प्रयोग उसका उदाहरण भाष्य में प्रदर्शित है। नियत परिमाण विशिष्ट सेना अर्थ में यह शब्द रूढ़ है। इस शब्द की अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति प्रदर्शित है। श्रीमान् कैय्यट[3] का कथन है - 'अक्षान्

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 45.
2. अष्टाध्यायी 6/1/89
3. महाभाष्यप्रदीप 6/1/89.

ऊहते अवश्यम्' इस विग्रह में 'ऊह' धातु से आवश्यक अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय हुआ है। तदनन्तर 'ङीप्' प्रत्यय करने से 'ऊहिनी' शब्द निष्पन्न होता है। उसका 'अक्ष' शब्द के साथ 'साधनंकृता' इस सूत्र से समास होता है।

कैयट की उक्त व्याख्या को ही विस्तृत करते हुए नागेश कहते हैं - 'ऊह[1] धातु वहन् अर्थ में है।' 'अक्ष' शब्द 'रथावयव' को कहते हैं। यह शब्द सेना के अङ्ग रथ तुरगादि का भी उपलक्षण है। अक्षान् = रथतुरगादीनि सेवां प्रति ऊहते प्रापयति या सां अक्षौहिणी इस प्रकार सेना विशेष यह शब्द रूढ़ है। आवश्यक अर्थ द्योत्य रहने पर उपपद के अभाव में यहाँ 'णिनि' हुआ है। अतः यहाँ उपपद समास न हो करके 'साधनं कृता' इस सूत्र से समास किया गया है।

श्रीमान् हरदत्त[2] ने भी इसी प्रकार से इस शब्द की व्युत्पत्ति की है। हरदत्त के मत में यह विशेषता है कि 'अक्षैः ऊहते अवश्यं' इस विग्रह में 'तृतीयान्त पूर्वपद समास' स्वीकृत किया है। कैयट नागेशादि ने अक्षान् ऊहते' इस विग्रह में 'द्वितीयान्त पूर्वपद समास' किया है। भट्टोजी दीक्षित[3] ने सिद्धान्त कौमुदी में, दूसरा ही ढंग अपनाया है उनके अनुसार 'ऊहः अस्याम् अस्ति' इस विग्रह में 'ऊह' शब्द से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय करके और 'ङीप्' प्रत्यय करके 'ऊहिनी' शब्द

---

1. महाभाष्य प्रदीपोद्योत 6/1/89.

2. अक्षैरूहतेऽवश्यमिति आवश्यके णिनिः, 'साधकं कृता' इति समासः।
पदमञ्जरी, 6/1/89.

3. प्रौढ़ मनोरमा अच्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 161.

बनाया गया है तथा 'अक्षानां ऊहिनी' ऐसा विग्रह करके 'षष्ठी समास' माना है। न्यासकार[1] के मतानुसार 'अक्षाणां ऊह: स: अस्या अस्ति' इस प्रकार का विग्रह प्रदर्शित किया गया है। इस विग्रह से ऐसा लगता है कि 'अक्ष' शब्द का ऊह' शब्द से समास करके तदनन्तर 'णिनि' प्रत्यय किया गया है। इस प्रकार के व्याख्यान अन्य प्राचीन लोगों ने माना है किन्तु न्यासकारादि के व्याख्यान को मनोरमा ग्रन्थ में दीक्षित जी ने खण्डित कर दिया है। उनका कथन है कि इस प्रकार के विग्रह में 'अक्षौहिणी' यह प्रयोग साधु नहीं हो पाएगा, क्योंकि ऊहिनी शब्द परे रहते वृद्धि का विधान है। न्यासीय विग्रहमें 'अक्ष' शब्द का 'ऊह' शब्द से समास कर देने पर 'इनि' प्रत्यय के उत्पत्ति पर्यन्त संहिता सन्धि रुक नहीं सकती है। अत: 'आद्गुण:' सूत्र से गुण आवश्यक हो जाएगा। अक्षोहिणी यह रूप होन लगेगा। 'अक्षादूहिन्याम्' इस वार्त्तिक के द्वारा गुण का बाध सम्भव नहीं है क्योंकि गुण के प्राप्तिकाल में ऊहिनी यह स्वरूप न होने से वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं है। वृद्धि तो 'ऊहिनी' शब्द की निष्पत्ति के अनन्तर ही प्राप्त हो सकेगी। दूसरी बात यह है कि 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इस सूत्र के बल से सन्धि से निष्पन्न शब्दों से तद्धित प्रत्यय का विधान होता है। अत: असन्धिक 'अक्ष' ऊह' इस शब्द से तद्धित प्रत्यय इनि का विधान नहीं हो सकता। यद्यपि वृद्धि गुण का अपवाद है फिर भी यदि अपवाद कहीं चरितार्थ होता है तो उपसर्ग के द्वारा बाँध लिया जाता है। 'अक्ष' शब्द के साथ जब 'ऊहिनी' शब्द का समास

---

1. अक्षाणामूह:, सो स्यास्तीतिमत्वर्थ्ये इनि:, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् अक्षौहिणी'

– न्यास 6/1/89.

होगा उस समय समकाल में प्राप्त गुण को बाँधकर वृद्धि चरितार्थ हो जाती है । अत: जब अक्ष शब्द का ऊह शब्द के साथ समास होगा तो इस पक्ष में पूर्वकाल में प्राप्त अन्तरङ्ग गुण वृद्धि को ही बाध लेगा । दूसरी बात यह है कि न्यासकार के विग्रह पक्ष में 'अक्ष ऊह' इस समस्त समुदाय से 'इनि' प्रत्यय करने पर 'अक्ष ऊहिनी' इस शब्द में 'ऊहिनी' शब्द अनर्थक हो जाएगा । अत: वृद्धि की प्राप्ति न हो सकेगी क्योंकि अर्थवद् ग्रहण परिभाषा के बल से सार्थक ऊहिनी शब्द परे रहते ही वृद्धि का विधान होता है । यद्यपि सिद्धान्त में अक्ष शब्द का ऊहिनी शब्द के साथ समास करने पर भी ऊहिनी शब्द अनर्थक ही है क्योंकि समास में एकार्थीभाव माना जाता है । समास घटक पद-विशिष्ट अर्थ के अवाचक होने से अनर्थक होता है तथापि इस पक्ष में 'ऊहिनी' शब्द में कल्पित अर्थवत्ता लेकर वार्त्तिक की प्रवृत्ति हो सकती है । पूर्वपक्ष में तो समास के बाद 'इनि' प्रत्यय होने पर 'ऊहिनी' शब्द में कल्पित अर्थवत्ता सम्भव नहीं है । अत: अक्ष शब्द का ही ऊहिनी शब्द के साथ समास साधु है । इस प्रयोग णत्व 'पूर्वपदात् संज्ञायामग:'[1] इस सूत्र से 'णत्व' हुआ है । उपर्युक्त व्याख्यान से यह निष्कर्ष निकलता है कि अक्ष शब्द का ऊहिनी शब्द के साथ ही समास होगा । यह ऊहिनी इनि प्रत्ययान्त हो अथवा णिनि प्रत्ययान्त हो । उसी प्रकार अक्ष शब्द भी द्वितीयान्त हो, तृतीयान्त हो अथवा षष्ठयन्त हो इन तीनों मतों को दिखाया जा चुका है । यह वार्त्तिक भी अनन्यथा सिद्ध वृद्धि का विधान करने के कारण वाचनिक ही है । उसी प्रकार से

---

1. अष्टाध्यायी 8/4/3.

'स्वादीरेरिणो' यह वार्त्तिक भी वाचनिक ही है । न्यासकार ने इस वार्त्तिक का तथा इस प्रकरण में आए अन्य वार्त्तिकों को व्याख्या द्वारा अन्यथासिद्धत्व दिखलाया है । उनके मतानुसार उत्तर सूत्र 'आटश्च'[1] में च शब्द पढ़ा गया है। वह च शब्द अप्राप्ति स्थल में भी वृद्धि के विधान के लिए है जैसे - अक्षौहिणी, स्वैरिणी इत्यादि लक्ष्यों में वृद्धि सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार उनके मतानुसार ये दोनों वार्तिक च शब्द से लभ्य अर्थ के अनुवादक मात्र हैं ।

---

1. अष्टाध्यायी, 7/1/90.

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु[1]

यह वार्त्तिक भी 'एते धत्यूठसु'[2] इस सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है । इस वार्त्तिक में 'ऊह' शब्द प्रक्षिप्त है क्योंकि भाष्य में नहीं देखा जाता है ऐसा प्राचीनों का मत है । अतएव काशिका में इस वार्त्तिक में ऊह शब्द का पाठ नहीं है किन्तु मनोरमाकार[3] का कहना है कि उस समय की पुस्तकों के भाष्य वार्त्तिकों में ऊह शब्द का पाठ देखा जाता है तथा उसका उदाहरण 'प्रौहः' यह भी उपलब्ध होता है । इस अभिप्राय से लघु सिद्धान्त कौमुदी में 'ऊह' शब्द से सहित यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'प्र' शब्द के 'अकार' से 'ऊहादि' शब्द 'घटक अच्' परे रहते पूर्व पर के स्थान में वृद्धि, एकादेश होता है । यह वार्त्तिक का अर्थ है। प्रौहः प्रौढ़ः, प्रौढिः, प्रैषः, प्रैष्यः ये सब इसके उदाहरण हैं । काशिका में 'ऊह' शब्द से रहित वार्त्तिक पठित होने के कारण वहाँ प्रौढ़ः उदाहरण नहीं दिया गया है । वह धातु से 'क्त' प्रत्यय तथा 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर ऊढ़ः और 'ऊढ़ि' ये दोनों शब्द बनते हैं । 'ईष्' धातु 'घञ्' और 'ण्यत्' प्रत्यय करने से 'एष' और 'एष्य' यह रूप बनता है यहाँ ऊहादि शब्द 'अव्यय' नहीं है । अतः 'तत साहचर्येण' 'ऐष्य' यह शब्द भी 'अव्यय' नहीं लिया जाता है । 'प्र' शब्द के बाद अव्यय 'एष्य' रहने पर 'एङिपररूपम्' सूत्र से पर रूप ही होता है जैसे प्रेष्यः यहाँ

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धिं प्रकरणम्, पृष्ठ 76.
2. अष्टाध्यायी 6/1/89.
3. प्रौढ़ मनोरमा स्वरसन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 162.

यहाँ 'ईष्' धातु 'क्त्वा' प्रत्यय होने के बाद प्र शब्द के साथ समास होने पर 'क्त्वा' को 'ल्यप्' हो जाता है । 'क्त्वा' तो: सुन 'इत्यादि सूत्र से अव्यय संज्ञा हो जाती है । दीर्घोऽपधात् ईष् धातु ण्यत् प्रत्यय होने पर इष्यं: यह रूप होता है । 'प्र' शब्द के साथ योग करने पर 'प्रेष्य:' यह रूप होगा । यह सब प्रदीप[1] में स्पष्ट है ।

सिद्धान्त कौमुदी में दीक्षितजी ने भी कहा है 'ईष् उञ्छे ईष गति हिंसा दर्शनेषु' इन दोनों धातुओं के दीर्घोऽपध होने से ईष: ईष्य: यह रूप होगा । 'प्र' शब्द के साथ गुण करने पर प्रेष: प्रेष्य: यह रूप होता है ।

पूर्ववार्त्तिक केवल गुण का बाधक है और यह पररूप का भी बाधक है । प्रैष्य: इत्यादि प्रयोगों में पररूप को बाधकर इससे वृद्धि होती है । यह भी वार्त्तिक वाचनिक है । इसका भी व्याख्यान साध्यत्व पूर्ववार्त्तिक की तरह समझना चाहिए ।

ऋते च तृतीया समासे[2]

यह वार्त्तिक भी 'एत्येधत्यूठ्सु'[3] सूत्र पर पढ़ा गया है । तृतीया समास में जो ऋत शब्द तद् घटक अच् परे रहते अवर्ण से पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है । पूर्ववार्त्तिक की अपेक्षा इस वार्त्तिक की यह विशेषता है कि पूर्व

---

1. प्रेष्य शब्द स्त्वीष्य शब्दे भवति । महाभाष्य प्रदीप 6/1/89.
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 46.
3. अष्टाध्यायी 6/1/89.

वार्त्तिक में पर अच् ऊहिनी इत्यादि शब्दों का अवयव लिया जाता रहा तथा पूर्व आकार भी आदि शब्द का अवयव लिया जाता रहा । इस वार्त्तिक में तो 'ऋत' शब्द 'घटक अच्' लिया जाता है और पूर्व अकार किसी विशेष शब्द का लिया जाय ऐसा निर्देश नहीं है । अकार मात्र से परे 'ऋत' शब्द 'घटक अच्' रहने पर वृद्धि होती है । अतएव काशिका में इस वार्त्तिक पर अवर्णात् वृद्धिर्वक्तव्या ऐसा पढ़ा गया है । सुखार्तः दुःखार्तः इत्यादि इसका उदाहरण है । सुखेन ऋतः इत्यादि विग्रह में 'कर्तृकरणेकृता बहुलम्'[1] इस सूत्र से तृतीया समास हुआ है । वार्त्तिक में समास ग्रहण होने से असमास स्थल पर 'सुखेन ऋतः' इत्यादि में वृद्धि नहीं होती है अपितु गुण ही होता है । तृतीया ग्रहण सामर्थ्यात् परं ऋतः परमर्तः इत्यादि कर्मधारय स्थल पर वृद्धि नहीं होती है अपितु गुण ही होता है । यह वार्त्तिक गुण का अपवाद है ।

प्रवत्सतर कम्बलवसनार्ण दशानामृणे[2]

यह वार्त्तिक भी 'एत्येधत्यठसु'[3] सूत्र के भाष्य में 'प्रवत्सतर कम्बलवसनामृणे', 'ऋण दशाभ्यां च' ये दोनों वार्त्तिक पढ़े गए हैं । उन्हीं दोनों के अनुवादात्मक और संकलनात्मक यह वार्त्तिक लघु सिद्धान्त कौमुदी में पढ़ा गया है ।

---

1. अष्टाध्यायी, 2/1/32.

2. लघुसिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 47.

3. अष्टाध्यायी, 6/1/89.

'प्र' से लेकर 'दश' पर्यन्त शब्दों के अन्त्य अकार से परे 'ऋण' शब्द के 'अच्' परे रहने पर पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है । प्रार्णम्वत्सतरार्णम्, कम्बलार्णम्, वसनार्णम्, ऋणार्णम्, दशार्णम् ये सब उदाहरण हैं । एक 'ऋण' को दूर करने के लिए जो दूसरा 'ऋण' लिया जाता है उसे 'ऋणार्णम्' कहते हैं । 'दशार्ण' शब्द देश-विशेष तथा नदी-विशेष में रूढ़ है । यहाँ ध्यातव्य है कि अक्षादूहिन्याम् इत्यादि पूर्व वार्त्तिकों में पूर्व समुदाय पञ्चमी के द्वारा निर्दिष्ट है । इस वार्त्तिक में षष्ठी के द्वारा निर्देश किया गया है । यह केवल वैचित्र्य के लिए है । भाष्य में कहे गए इन दोनों वार्त्तिकों में आद्यवार्त्तिक में पूर्व समुदाय में षष्ठी निर्देश तथा उत्तर वार्त्तिक में पञ्चमी निर्देश किया गया है । काशिका में इन दोनों वार्त्तिकों को यथावत् पृथक्-पृथक् पढ़ा गया है । लघु सिद्धान्त कौमुदी एवम् सिद्धान्त कौमुदी में दोनों वार्त्तिकों को मिलाकर एक ही वाक्य में पढ़ दिया गया है ।यहवार्त्तिक भी वाचनिक है ।

शकन्ध्वादिषु पररूपम् वाच्यम्[1]

'एङिपररूपम्'[2] इस सूत्र के भाष्य पर यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'शकन्ध्वादिषु पररूपम् वक्तव्यम्' यह वहाँ का भाष्य है । 'शकन्ध्वादि' शब्दों में उनकी सिद्धि के अनुकूल पररूप होता है । यह वार्त्तिक का अर्थ है । जिस

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धिप्रकरणम् , पृष्ठ 50.

2. अष्टाध्यायी 6/1/94.

वर्ण के अथवा वर्ण समुदाय के पररूप होने से 'शकन्धु' इत्यादि शब्दों का अन्वाख्यान होता है या सिद्धि होती है । उन सबको 'पररूप' होता है । केवल 'अकार' मात्र को नहीं होता है । अतः इस वार्त्तिक में पहले से चले आ रहे 'आत्' का सम्बन्ध नहीं होता है । उसके सम्बन्ध होने पर 'शकन्धु' इत्यादि की सिद्धि होने पर भी 'मनीषा' इत्यादि प्रयोगों में 'पररूप' नहीं हो पाएगा । 'मनस् ईषा' इस विग्रह में पूर्वपद के अन्त में 'अकार' न होने से 'पररूप' की प्राप्ति न हो सकेगी । इसी प्रकार से 'पतञ्जलि' इत्यादि शब्दों में उक्त दोष होगा । अतः लघु सिद्धान्त कौमुदीकार ने 'तच्चटेः' अर्थात् वह पररूप 'टी' को होता है । ऐसा कहा है । यह टी अंश भाष्य वार्त्तिक में नहीं देखा जाता है । इष्ट प्रयोगों के आदेश से लघु सिद्धान्त कौमुदी में रखा गया है । 'अचोऽन्त्यादिटि' इस सूत्र से• 'अचो' के मध्य में जो अन्तिम 'अच्' वह हो आदि में जिसके उसकी टी संज्ञा होती है । शकन्धु इत्यादि प्रयोगों में 'शक्' शब्द के अन्तिम 'अच्' 'क' में 'अ' है । वही स्वयं के आदि में भी है । अतः उसको टी संज्ञा होगी । उस 'टी' को तथा 'अन्धु' के अकार के स्थान पर पररूप होता है । 'मनस् + ईषा' इस प्रयोग में अन्तिम 'अच्' 'मनस्' शब्द में 'न' में 'अ' है वह 'स' के आदि में है अतः 'अस्' को 'टी' संज्ञा होगी । उसको 'ईषा' के 'इकार' के साथ 'पररूप' होता है । इस प्रकार सभी प्रयोगों का संग्रह हो जाता है । किन्हीं आचार्यों का मत है कि इस प्रयोग में 'आत' और 'अच्' का सम्बन्ध होता है । 'शकन्धु' आदि ही इसके उदाहरण हैं । 'मनीषा पतञ्जलि' इत्यादि शब्दों की सिद्धि पृषोदरादि गण में 'मनस् पतत्' इत्यादि शब्दों के पाठ करने से अन्त का

लोप हो जाता है । ऐसी स्थिति में इन प्रयोगों में भी 'अकार' के साथ ही 'पररूप' होता है । इस प्रकार पहले से चले आ रहे 'आत्' का परित्याग नहीं करना पड़ता है । यह सब 'मनोरमा[1] में स्पष्ट है । शकन्धु, कर्कन्धु, कुलटा, सीमन्त: इत्यादि इस वार्त्तिक के उदाहरण भाष्य में कहे गए हैं । शक + अन्धु, कुल+ अटा, कर्क + अन्धु, सीमन्+अन्त इत्यादि इनका विग्रह है । 'अटा' शब्द 'अटति' इस विग्रह में 'पचादि अच्' हुआ है तथा 'कुलानां अटा कुलटा' यह षष्ठी समास है । 'कुलानि अटति' इस विग्रह में 'कर्मण्यण' इस सूत्र से 'अण्' की प्रसक्ति होगी । सीमन्त[2] शब्द में 'पररूप' केश'. के वेश में ही होगा । इसलिए कौमुदीकार ने 'सीमान्त केश वेश' यह पढ़ा है । 'शकन्धु' आदि आकृतिगण है । जिन शब्दों में 'पररूप' देखा जाता है और वह इष्ट है तथा 'पररूप' विधायक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं होता है । उन सभी शब्दों की गणना 'शकन्ध्वादि' में समझना चाहिए । हरदत्त ने भी कहा है कि 'शकन्ध्वादिगण' का अनुकरण प्रयोग से करना चाहिए । 'कुलटा या वा कुलटा' शब्द में भी 'पररूप' होता है । 'लोहितादिकटन्तेभ्य:', 'व्यवहपण्योः समर्थयो:' इत्यादि निर्देश 'शकन्ध्वादि' के आकृतिगण में प्रमाण है । 'कुलटा' शब्द तथा 'समर्थ' शब्द में आकृतिगण होने से 'पररूप' सिद्ध होता है । इसलिए भाष्य में 'अनुक्त मार्तण्ड:' इत्यादि प्रयोगों में भी कौमुदीकार ने प्रदर्शित किया है । यह वार्त्तिक भी भाष्य रीति से वाचनिक तथा न्यासरीति से व्याख्यान साध्य है ।

---

1. प्रौढ़ मनोरमा, स्वरसन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 171.
2. महाभाष्य, 6/1/94.

न समासे[1] ।सिति च।[2]

'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य[3] ह्रस्वश्च' इस सूत्र के भाष्य में 'सिन्नित्य समासयो: शाकल प्रतिषेध:' इस रूप में वार्त्तिक पढ़ा गया है । भाष्योक्त वार्त्तिक के 'अकार' को काशिकाकार यथावत् रूप से ग्रहण कर लिया है । कौमुदी कार ने इस वार्त्तिक को 'न समासे' 'सिति च' दो भागों में अनुवाद करके लिखा है । भाष्योक्त वार्त्तिक का यह अर्थ है - सिच्च नित्यसमासश्च इति सिन्नित्य समासौ नित्याभिकार' में विहित तथा अस्वपद विग्रह समास नित्य समास कहलाता है । 'सिन्नित्य समासयो:' इसमें एक ही शब्द में विषय-भेद से भिन्न-भिन्न ग्रहण किया जाता है । 'सित्' की अपेक्षा से पर सप्तमी तथा 'नित्' समास की अपेक्षा से 'विषय सप्तमी' । 'सिति परे मित् समास विषये शाकल प्रतिषेध: यह अर्थ होता है । 'इकोऽसवर्णेशाकल्यस्य ह्रस्वश्च' यही शाकल विधि है । शाकल्य के सम्बन्ध से इसको शाकल कहते हैं । इस शाकल विधि का प्रतिषेध 'सिति परे' तथा 'नित् समास' के विषय में होता है । यह अर्थ कौमुदी में दिखलाया गया है। उक्त सूत्र से विहित ह्रस्व और प्रकृतिभाव का प्रतिषेध होता है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 68.

2. वही ।

3. अष्टाध्यायी, 6/1/125.

वस्तुत: उक्त सूत्र केवल ह्रस्व का ही विधायक है न कि प्रकृति भाव का वह तो ह्रस्व विधि सामर्थ्यात् सिद्ध हो जाएगा । अन्यथा ह्रस्व विधान व्यर्थ होगा । 'चक्रि अत्र' इत्यादि प्रयोगों को 'ह्रस्व' करने के बाद स्वर सन्धि करने पर कोई विशेषता नहीं रह जाती अत: उक्त सूत्र से केवल 'ह्रस्व' का ही विधान होता है । 'प्रकृतिभाव सामर्थ्यात्' सिद्ध होता है । भाष्यकार ने 'सिति च' इसका उदाहरण 'अयन्ते योनिर्ऋत्विय:', 'प्रजां विदामऋत्वियाम्' इन प्रयोगों में 'ऋत्विय:' दिया है । यहाँ 'ऋतु' शब्द से 'ऋतु:प्राप्तो स्य' इस अर्थ में 'ऋतोरण् छन्दसि घस्'[1] इस सूत्र से 'घस्' प्रत्यय हुआ । 'सकार' को इति संज्ञा लोप होने पर तथा 'घकार' को 'इय' आदेश होने पर 'ऋतु' इय्' इस अवस्था में इको सवर्णे सूत्र से प्राप्त ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव का इस वार्त्तिक के द्वारा निषेध होता है क्योंकि 'घस्' 'सित्' है । शाकल प्रतिषेध होने के अनन्तर 'इकोयणचि'[2] सूत्र से 'यण' हुआ है । 'ओर्गुण:'[3] सूत्र से यहाँ 'गुण' नहीं होगा क्योंकि वह 'भ' संज्ञा में करता है । यहाँ पर 'सिति च'[4] इस सूत्र से 'पद' संज्ञा होने से 'भ' संज्ञा का बाध हो जाता है । 'पद' संज्ञा होने से ही यहाँ ह्रस्व विधि प्राप्त होती है क्योंकि पदान्त इक् ह्रस्व होता है । कौमुदीकार ने 'सिति' का उदाहरण 'पार्शवम्' दिया है । 'परशूनां समूह इस अर्थ में 'परशवा अण्स् वक्तव्य:' इस

---

1. अष्टाध्यायी, 5/1/105.
2. वही, 6/1/77.
3. वही, 6/4/146.
4. वही, 1/4/16.

वार्त्तिक से 'परसू' शब्द से 'अण्सू' हुआ है। 'अण्सू' को 'सित्' होने से पूर्वभाग को 'पद' संज्ञा होती है। अत: 'ओर्गुण:' से 'गुण' नहीं होता है तथा 'सित्' होने से इस सूत्र से 'ह्रस्व' प्रकृतिभाव भी नहीं होता है। 'यण्' होकर 'पार्श्वम्' यह रूप सिद्ध होता है। नित्य समास का उदाहरण भाष्यकार ने 'वैय्याकरण:, सौवस्व:' यह दिया है। व्याकरण शब्द में 'कुगति'प्रादय:'[1] इस सूत्र से 'नित्य समास' हुआ है। इस सूत्र से 'नित्य'[2] क्रीडा जीविकयो:' इस सूत्र से नित्य पद की अनुवृत्ति आति है। वि + आकरण, सु + अस्व: इस प्रक्रिया में 'ह्रस्व' संचित प्रकृतिभाव प्राप्त होता है। उसका इस वार्त्तिक के द्वारा निषेध होता है। 'अस्व' पद विग्रह रूप नित्य समास का उदाहरण काशिकाकार ने 'कुमार्यर्थं' दिया है। यहाँ 'कुमार्यै इदं' इस 'अस्व' पद विग्रह में 'अर्थेन नित्य समासो विशेष्य लिङ्गता च' इस वचन से समास होता है। 'कुमारी अर्थम्' इस दशा में 'ह्रस्व' संचित प्रकृति भाव प्राप्त होता है। इस वार्तिक के द्वारा निषेध हो जाता है। भाष्यकार[3] ने वार्त्तिक से नित्य ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है। अत: अनित्य समास में भी शाकल विधि का प्रतिषेध होता है। जैसे 'वाप्यां अस्व: वाप्स्व:' यहाँ 'स: सुपा' सूत्र से समास हुआ है। 'संज्ञायां' सूत्र

---

1. अष्टाध्यायी 2/2/18.

2. वही, 2/2/16.

3. नित्यग्रहणेनार्थ: सित्यसमासयो: शाकलं न भवतीत्येव। इदमपिसिद्धिं भवति, वाप्यामश्वो वाप्यश्व:, नद्यामातिर्नधाति:।

महाभाष्य प्रदीप, 6/1/127.

से समास करने पर तो नित्य समासता में ही संज्ञात्व की अभिव्यक्ति होती है । तब भाष्यकार का नित्य ग्रहण प्रत्याख्यान व्यर्थ हो जाता है । यह तथ्य कैय्यटकृत प्रदीप[1] व्याख्यान में स्पष्ट है । अतएव भाष्यमत का अनुसरण करते हुए कौमुदीकार ने नित्यपद से अघटित 'न समासे' इतना ही वार्त्तिक पढ़ा है । तथ 'वाप्यश्व:' यह उदाहरण दिया है । यह भी वार्त्तिक वाचनिक ही है । न्यास कार[2] ने इस वार्त्तिक के अर्थ को व्याख्यान साध्य बतलाया है । उनके मतानुसार इस सूत्र से 'सर्वत्र विभाषा गो:'[3] इस सूत्र से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आता है । और इसको 'व्यवस्थित विभाषा' मानकर लक्ष्यों के अनुरोध से व्यवस्था सम्भव हो जाती है । अत: यह वार्त्तिक बनाने की आवश्यकता नहीं है किन्तु ऐसा स्वीकार करने के अतिरिक्त भी लक्ष्यों के ज्ञान के लिए इस वार्त्तिक का आरम्भ करना चाहिए अन्यथा प्रकृति भाव कहाँ पर होता है और कहाँ पर सर्वथा नहीं होता है यह दुर्वचनीय हो जाएगा । किसी का मत है कि 'इको यणचि' सूत्र में 'इक्' ग्रहण के सामर्थ्य से 'न समासे' इस वार्त्तिक से साध्य शाकल विधि

---

1. सुप्सुपेति समास: । 'संज्ञायाम्' इति तु समासस्य नित्यत्वात् सिद्ध:प्रतिषेध: ।
   महाभाष्य प्रदीप, 6/1/127.

2. व्याख्येय इत्यर्थ: । तत्रेदं व्याख्यानं 'सर्वत्र विभाषागो:' इत्यतो विभाषा ग्रहणमनुवर्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते । तेन सिनित्यसमासयो: शाकलप्रतिषेधो भविष्यति । न्यास 6/1/127.

3. अष्टाध्यायी, 6/1/122.

का प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है । अत: यह वार्त्तिक वाचनिक नहीं है अपितु 'इक' ग्रहण सामर्थ्य से सिद्ध अर्थ का अनुवाद है । उनके कथन का तात्पर्य यह है कि 'इको यणचि' सूत्र में 'ह्रस्वस्यापिति, कृति, तुक्'[1] तथा 'दीर्घात्'[2] इन दोनों सूत्रों से 'ह्रस्व दीर्घे' पद की अनुवृत्ति आ जाने से 'व्य जन' को 'यण' नहीं होगा । 'प्लुत' तो इसकी दृष्टि में असिद्धि की है तथा 'प्लुत' को प्रकृति भाव विधान करने से 'यण' प्राप्त नहीं होगा । सचो को 'एचो ययायव:'[3] इत्यादि सूत्र से 'अयादि' आदेश ही होगा 'अकार को 'सवर्णि' परे रहते 'दीर्घ गुण वृद्धि' के द्वारा बाध हो जाने से 'यण' नहीं हो सकेगा । अत: परिशेषात् 'इक्' को ही 'यण' होगा । इस तरह कार्य सिद्ध हो जाने पर 'इको यणचि' सूत्र में 'इक्' पद व्यर्थ होकर ज्ञापन करेगा कि कहीं-कहीं 'शण्' ही होगा अन्य कार्य नहीं होगा । अन्य कार्य ह्रस्व ही है । लक्ष्यानुरोधात् क्वचिद् पद से समास का ग्रहण किया जाएगा । अत: 'न समासे' वार्त्तिक करने की आवश्यकता नहीं है। यह सब प्रक्रियाप्रकाश[4] ग्रन्थ में 'इकोयणचि' सूत्र में स्पष्ट है ।

---

1. अष्टाध्यायी 6/1/71.
2. वही, 6/1/75.
3. वही, 6/1/78.
4. ननु - 'ह्रस्वस्यपिति कृतितुक्' ।6/1/71। 'दीर्घात्' ।6/1/75।, इत्यतो ह्रस्वदीर्घपदानुवृत्त्या इत्यादिना न समासे इति तदनेन संग्रहीतं भवतीत्यन्तेन-ग्रन्थे । प्रक्रियाप्रकाश ।

अनाम्नवतीनगरीणामितिवाच्यम्[1]

'न पदान्ताट्टोरनाम्'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'अनाम' सूत्र घटक अनाम पद को लक्ष्य करके भाष्यकार ने 'अनाम्नवति नगरीणां इति वक्तव्यम्' ऐसा, पढ़ा है। उक्त सूत्र 'ष्टुना ष्टुः'[3] इससे प्राप्त 'ष्टुत्व' का निषेध करता है। वहाँ 'अनाम' यह पद षष्ठी बहुवचन 'न्युट्' सहित नाम का अनुकरण है। 'अनाम' यह पद लुप्त षष्ठयन्त है। 'अनाम' यह पद लुप्त षष्ठयन्त है। पदान्त, टवर्ग से परे नाम से भिन्न सकार तवर्ग को 'ष्टुत्व' नहीं होता है। नाम शब्द परे रहते 'ष्टुत्व' का प्रतिषेध नहीं होता है। यह फलितार्थ है। इस प्रकार 'अनाम' यह अंश न पदान्ता "टो' इससे प्राप्त 'ष्टुत्व' का निषेधक है। अतः 'षण्णाम्' सूत्र से ष्टुत्व हो जाता है। यहाँ 'षष्' शब्द से आम् विभक्ति आने पर 'षट् चतुर्भ्यश्च'[4] इस सूत्र से 'नुट्' होता है। सकार को 'जशत्व' होकर 'ड्' हो जाता है। तथा 'यरो नुनासिके' इस सूत्र से 'ड् ण' हो जाता है। तदनन्तर 'नाम' के 'नकार' को 'ष्टुत्व' होता है। महाभाष्य में 'अनाम्' इस अंश की जगह पर 'नवति नगरी' का भी समावेश किया गया है जिससे षण्णवति, षण्णगर्यः' इत्यादि प्रयोगों में भी 'ष्टुत्व' का निषेध नहीं होता है। यहाँ 'अनाम' 'नवति, नगरी' के अवयव से भिन्न जो 'सकार' और 'तवर्ग' उसके 'ष्टुत्व' का निषेध

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हल् सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 75.
2. अष्टाध्यायी, 8/4/42.
3. वही, 8/4/41.
4. वही, 7/1/55.

होता है । 'अनाम, नवति, नगरी' से भिन्न अवयव जो 'सकार' 'तवर्ग' उसके 'ष्टुत्व' का जो निषेध होता है यह अर्थ ठीक नहीं है । ऐसा अर्थ मानने पर 'अनाम' ऐसा कहने पर भी 'षण्णां' प्रयोग में 'ष्टुत्व' का निषेध होने लगेगा क्यों कि षण्णां, यह, समुदाय नाम से भिन्न है । अतः 'नाम' का 'नकार' नाम के अवयव होने पर भी नाम से भिन्न 'षण्णां' इस समुदाय का अवयव है । 'अनाम नवति नगरी' के अवयव जो 'सकार 'तवर्ग' उसके 'ष्टुत्व' का निषेध नहीं होता है । यह अर्थ 'प्रसज्य प्रतिषेध' न्याय का फल है । इस वार्त्तिक का उदाहरण 'षण्णां, षण्णवति, षण्णगर्य है । भाष्यकार ने भी उन्हीं प्रयोगों को उदाहृत किया है । 'षण्णवति षड् अधिकानवति' इस विग्रह के मध्यम पद लोपी समास प्रयोग सिद्ध हुआ है । यह तथ्य न्यास पदमंजरी और लघु शब्देन्दु शेखर में स्थित है । प्रक्रियाप्रकाशकार[1] 'षण्णवति' में 'षट् च नवतिश्च' यह समाहार द्वन्द्व कहते हैं । यद्यपि समाहार द्वन्द्व में इस प्रयोग में नपुंसक लिङ्ग की प्राप्ति हो सकती है किन्तु लिङ्ग लोकाश्रित होता है । अतः दोष नहीं है । मध्यम पद लोपी समास पक्ष में उन्होंने दोष भी दिखलाया है । यहाँ 'षड्' शब्द अन्तर वर्तिनी विभक्ति को लेकर 'न पदान्ताट्टोरनाम' इस सूत्र से 'नवति' 'नकार' को प्राप्त

---

1. 'षट् नवतिश्चेति समाहारे द्वन्द्वः । नपुंसकत्वाभावात्तु लोकात् षडधिकान-वानवतिरिति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समास इति प्राचोक्तं । तदसत् । 'संख्या' ।6/2/35। इति द्वन्द्वनिबन्धन स्वरासिद्धेरित्याकरात् ।'

– प्रक्रिया कौमुदी प्रकाश, हल्सन्धि प्रकरण ।

'ष्टुत्व' का निषेध इस वार्त्तिक के द्वारा निवृत्त हो जाता है। 'षड्नगर्यः' इस प्रयोग में 'षड् 'नगर्यः' यह दोनों प्रथमा बहुवचनान्त पृथक्-पृथक् पद हैं। यहाँ 'षड्' शब्द 'सुवन्त' होने से पद संज्ञक है। यहाँ पर 'नवति' 'नकार' को ष्टुत्व के निषेध का निषेध हो जाता है। काशिका ग्रन्थ में 'षण्णगरी' यह उदाहरण दिया गया है। वहाँ 'षण्णां नगरां समाहारः' इस विग्रह में समाहार द्विगु हुआ है। तदनन्तर 'द्विगोः' सूत्र से ङीप् हो जाता है। यह सब न्यास[1] पदमञ्जरी[2] में स्पष्ट है। यह वार्त्तिक भी वाचनिक ही है।

प्रत्यये भाषायां नित्यम्[3]

'यरो नुनासिके नुनासिको वा'[4] इस सूत्र के भाष्य पर 'यरो नुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्य वचनम्' इस रूप से यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। 'यरो नुनासिके' इस सूत्र के द्वारा 'पदान्त यर्' को अनुनासिक परे रहते प्राप्तिक

---

1. षण्णां नगराणां समाहारः षण्णगरी द्विगोः इति ङीप्। न्यास 8/4/42.
2. षण्णां नगराणां समाहारः षण्णगरी। - पदमञ्जरी, 8/4/42.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हल्सन्धि प्रकरण, पृष्ठ 78.
4. चिन्मयमिति। स्वार्थिकः 'तत्प्रकृतिवचने' इति मयट्। तत्र तदित तदिति वाक्य भेदेन क्वचित्प्राकर्यरूपप्रकृतवचनाभावे पिमय धर्मः। अतएव 'चिन्मयं ब्रह्म' इति समानाधिकरण्यम्। - लघु शब्देन्दु शेखर, हल्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 124.

अनुनासिक का विधान होता है । 'वाग्नयति वाङ्नयति' उसी प्राप्त 'अनुनासिक' को इस वार्त्तिक के द्वारा 'अनुनासिकादि' प्रत्यय परे रहते 'नित्यत्व' का विधान किया जाता है । अनुनासिकादि प्रत्यय परे रहते पदान्त यर को नित्य अनुनासिक होता है । यह वार्त्तिक का अर्थ है । 'वाङ्मय त्वङ्मय' यह इसके उदाहरण है । यही उदाहरण काशिका में भी दिया गया है । 'वाङ्मयं' इस प्रयोग में 'नित्य वृद्धि' 'शरादिभ्यः'[1] इससे 'मयट्' प्रत्यय हुआ है । 'त्वङ्मयं' इस प्रयोग में 'मयड् वैतयो भाषायां भक्ष्याच्छादनयोः' इस सूत्र से 'मयट्' प्रत्यय हुआ है । यहाँ पर नित्य अनुनासिक होकर 'वाङ्मय' यही प्रयोग साधु है । लघु सिद्धान्त कौमुदी में आचार्य वरदराज ने 'तन्मात्र चिन्मयं' यही वार्त्तिक का उदाहरण दिया है । 'तन्मात्रं' इस 'प्रयोग प्रयोग द्वेष्जदध्नमात्र च' इस सूत्र से 'मात्रच्' प्रत्यय हुआ है । 'चिन्मयं' इस प्रयोग में तद् प्रकृत वचने 'मयट्' इस सूत्र से स्वार्थिक 'मयट्' प्रत्यय हुआ है । चिदेव चिन्मय' यह विग्रह है । इस सूत्र में तद् इतना वाक्य भेदेन व्याख्यान करके कहीं-कहीं प्राचुर्य वचन के अभाव में भी स्वार्थ में 'मयट्' होता है । अतएव 'चिन्मयं ब्रह्म' इस प्रयोग में 'समानाधिकारण्य देखा जाता है । यह लघुशब्देन्दु शेखर में स्पष्ट है । प्रक्रिया कौमुदी

---

1. यत्तु प्राचा मयटि नित्यमिति पठितम्, यच्च हलन्त प्रकरणे षण्णां, षड्णामित्युदाहृतम् , यच्च 'यरो नुनासिकः' इति वाङ्नुनासिक इति तत्र व्याख्यातं तत्सर्वं भाष्यविरोधादुपेक्ष्यम् । -मनोरमा हल्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 196.

में तो 'मयट् नित्यं' यह पढ़ा गया है । इसको भाष्य विरोध होने से दीक्षितजी ने दूषित कर दिया है । 'प्रत्यये नित्यं' इतना ही भाष्य में देखा गया है । इस अभिप्राय से कौमुदीकार ने 'तन्मात्र' यह प्रयोग प्रत्यान्तर इति उदाहृत किया है । कौमुदी प्रकाशकार के मत में 'मयट्' ग्रहण को प्रत्यय मात्र का उपलक्षण मानकर 'मयट् निग्रहणं' इसे प्रत्ययकों कथांचित् संग्रह[1] करना चाहिए । 'यरो नुनासिकेऽनुनासिको वा' इस सूत्र में विभाषार्थक वा शब्द पढ़ा गया है । वह 'विभाषा' 'व्यवस्थित विभाषा' है । व्यवस्था यही है कि प्रत्यय परे रहते नित्य ही अनुनासिक हो । इस प्रकार वृत्तिकार[2] ने वार्त्तिक के अर्थ को व्यवस्थित विभाषा' मानकर साधित किया है । इनके मत से यह वार्त्तिक अपूर्व वचन न होकर अनुवादक मात्र है । प्रक्रियाप्रकाशकार ने भी वृत्तिकार के मार्ग का ही अनुसरण किया है । प्रकाशकार ने प्रत्यय परे रहते नित्य अनुनासिक विधान की तरह 'वृच्छवमुखम्' इत्यादि प्रयोगों में वकार को अनुनासिका भाव के लिए यहाँ 'व्यवस्थितविभाषा'[4] माना है । अन्यथा - 'चतुर्मुखः' इत्यादि प्रयोगों में 'रेफ' के सवर्णी अनुनासिक न रहने पर दोष न होने पर भी 'वृच्छवमुखम्' इत्यादि प्रयोगों में 'वकार' के

---

1. अत्र मयड् ग्रहणं प्रत्यान्तरस्याप्युपलक्षणम् । तेन तन्मात्रम्, गुडलिणमान् इति मात्रज्मतुवादिष्वपि नित्यमेव भवति । - प्रक्रिया प्रकाश, हल्सन्धि प्रकरणम्

2. व्यवस्थित विभाषा विज्ञानात्सिद्धम् । - काशिका 8/4/45.

3. एतदपि व्यवस्थित विभाषा विज्ञानाल्लभ्यते - प्रक्रियाप्रकाश, हल्सन्धिप्रकरणम् ।

4. 'वृक्षवमुखमि' त्यत्र प्राप्नोति । यद्यपिवस्य मह्वानाः प्रयत्नभेदान्नान्तरतमास्तथापिसानुनासिकोवकारः प्राप्नोति । तस्माद् व्यवस्थितविभाषात्वाददन्तः स्थानामनुनासिको न भवतीति व्याख्येयम् । प्रक्रियाप्रकाश, हल्सन्धि प्रकरणम् ।

'सवर्णी अनुनासिक' होने के कारण दोष दुर्वार है । अतः व्यवस्थित विभाषा मानना आवश्यक है किन्तु महाभाष्य में व्यवस्थित विभाषा की चर्चा नहीं है उनके अनुसार यह वार्त्तिक वाचनिक ही है ।

यवल परे यवला वा[1]

'हेमपरे वा'[2] इस सूत्र के भाष्य पर 'यवल परे यवल वा' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । इस वार्त्तिक में 'हेमपरे वा' इस सूत्र से 'हे' पद की तथा 'मोऽनुस्वारः' इस सूत्र से 'मह' पद की अनुवृत्ति होती है । 'यवल' पर 'शब्द 'हे' का विशेषण है । 'यवलाः पराः यस्मात्' यह बहुव्रीहि समास है । यकार, वकार, लकार, परक, हकार परे रहते 'मकार' के स्थान में य, व, ल, होता है । यह वाक्य का अर्थ है । यथा-सख्य सम्बन्ध होने से यकार परक हकार परे मकार को यकार तथा वकार परक 'ह' परे रहते वकार तथा लकार परक 'ह' परे रहते लकार होता है । इसके विकल्प में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से अनुस्वार होता है । इसका उदाहरण है कि 'हयः किय हयः किं ह्वलयति किवंह्वलयति, किं ह्लादयति किल ह्लादयति ह्वलयति' इस प्रयोग में ह्वल्, ह्मल् चलने धातु से 'णिच्' प्रत्यय हुआ है । ज्वल, ह्वल, इत्यादि सूत्र वार्त्तिक के द्वारा 'मित्व' होता है । तथा 'मितां ह्रस्वः इस सूत्र से ह्रस्व हो जाता है । उक्त प्रयोगों में 'किं'

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हल्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 87.
2. अष्टाध्यायी 8/3/26.

के 'मकार' के स्थान पर उनके अन्तरतम अनुनासिक यँ वँ लँ होते हैं । अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से यँ वँ लँ दो प्रकार के होते हैं । 'मकार अनुनासिक' ही होता है । न्यास पदमंजरी और प्रक्रिया प्रकाशकार के मत से यहाँ 'मकार' के स्थान पर 'अनुनासिक' ही यँ वँ लँ होने चाहिए । नागेश के मतानुसार 'अननुनासिक' ही 'यवल' होता है । 'यवल' के दो प्रकार होने पर भी वार्त्तिक में अननुनासिक' का ही निर्देश है । ग्रहण-शास्त्र के बल से 'अनुनासिक य व ल' का ग्रहण नहीं हो सकता है तथा जाति पक्ष को आश्रयण करने पर भी 'अनुनासिक य व ल' का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि 'भाव्यमानेन सवर्णानां न ग्रहणं' (अर्थात् विधीयमान अण् सवर्ण का ग्रहण नहीं कराता है ।) इस परिभाषा से निषेध हो जाने के कारण यहाँ सानुनासिक 'यवल' का ग्रह्य नहीं होता है । यह उद्योत[1] और लघुशब्देन्दुशेखर में स्पष्ट है[2]। यह वार्त्तिक भी 'अनुस्वार' के विकल्प पक्ष में 'यवल' के अपूर्व विधान करने के कारण वाचनिक है । न्यासकार ने इस वार्त्तिक के अर्थ की भी व्याख्यान साध्य बतलाया है । उनका कहना है 'मोराजि: सम: क्वौ' इस सूत्र में 'न' ही

---

1. वार्तिके यवला निरनुनासिका एव विधीयमानत्वात् । उदाहरणेषु सानुनासिक लेखस्तु लेखक प्रमादादित्याहु: । - उद्योत 8/3/36.

2. एते यवला निरनुनासिका एव विधीयमानत्वेन सवर्णाग्राहकत्वात् जातिग्रहण प्राप्तस्यैव गुणाभेदकत्व प्राप्तस्यापि 'अप्रत्यय' इत्यनेन निषेधाच्च ।

लघु शब्देन्दु शेखर, हल्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 129.

कहना चाहिए । उसकी जगह पर 'म:' यह अधिक विधान के लिए है । अधिक विधान 'य व ल' ही है । जैसा कि उन्होंने कहा है कि क्विन्तराजि परे रहते 'सम' के 'मकार' को 'अनुस्वार' नहीं होता है इतना ही सूत्रार्थ कर देने से लाघव हो जाता है 'मकार' का निर्देश अधिक विहित है । वह संचित करता है कि इस प्रकरण में अधिक भी विधियाँ होती हैं । इस प्रकार प्रकृत वार्त्तिक का अर्थ सिद्ध हो जाता है ।

चयो द्वितीया: शरि पौष्करसादेरितिवाच्यम्[1]

'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। यहाँ 'चय:' में स्थान षष्ठी है । 'चय: = च ट त क पानां' अर्थात् च प्रतिहार के द्र प्रथम अक्षर च ट त क प इनके स्थान में शर् = स श ष परे रहते वर्गों के द्वितीय अक्षर ख छ ठ थ फ होता है । पौष्करसादि आचार्यों के मतानुसार आचार्य विशेष के नाम लेने से यह विकल्प विधि है । स्थानकृत आनन्तर्य लेने से तत् तद् वर्गों के ही द्वितीय अक्षर होता है । इसके उदाहरण हैं वत्स:, वथ्स:, क्षीरम् ख्षीरम् , अप्सरा, अफ्सरा, वत्स: यहाँ पर व्युत्पत्ति पक्ष में वद धातु से अवणादिक् 'स' प्रत्यय हुआ है । दकार को चर्त्वेन तकार होता है । इस तकार को इस वार्त्तिक से पाक्षिक थकार होता है । इसी प्रकार 'अप्सरा' शब्द में भी

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी हल्सन्धि प्रकरण, पृष्ठ 8.
2. अष्टाध्यायी 8/4/48.

'अप्' पूर्वक 'सृ' धातु से 'असि' प्रत्यय हुआ है। 'अप्' के 'पकार' को 'परत्वेन' 'ब' हो जाता है और उसको 'चर्त्वेन चकार' होता है। उस 'प' को इस वार्त्तिक से पाक्षिक 'फकार' होता है। यहाँ शंका होती है कि इस वार्त्तिक की दृष्टि में इन प्रयोगों में 'चर्त्व' के असिद्ध होने से 'चय' के अभाव होने के कारण इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति कैसी होगी। कुछ लोगा इस शंका का उत्तर देते हैं। यह छन्द में प्रयोग होता है अत: 'चर्त्व' असिद्ध नहीं है। वस्तुतस्तु पाणिनीय मत में 'उणादि' विषय में अत्युत्पत्ति पक्ष ही माना जाता है। अत: वत्स: अप्सरा इत्यादि प्रयोगों में तकार पकरादि से घटित अव्युत्पन्न ही है। उसमें 'चर्त्वादि' के द्वारा 'तकारादि' की निष्पत्ति नहीं हुई है। अत: इस वार्त्तिक की प्रवृति निर्बाध है। यह लघु शब्देन्दु शेखर कें स्पष्ट है। सिद्धान्त कौमुदीकार ने 'प्राङ्ख्षष्ठ:' 'सुगण्ख्ष्ठ:' इन प्रयोगों में इस वार्त्तिक को संचालित किया है। इसी रूप में लघु सिद्धान्त कौमुदीकार ने भी इसे ग्रहण किया है। इन दोनों प्रयोगों में क्रमश: 'ङणो: कुक्टुक्शरि' इस सूत्र से 'कुक्' और 'टुक्' का आगम हुआ है तथा इस वार्त्तिक से 'ककार' और 'टकार' को क्रमश: 'खकार' और ठकार होता है। इस वार्त्तिक से विहित वर्गों के द्वितीय अक्षर को 'विधान सामर्थ्यात' चर्त्व नहीं होता है। अन्यथा द्वितीय वर्ण विधान ही व्यर्थ होगा।

संपुंस्कानां सो वक्तव्यः[1]

'समः सुटि'[2], 'पुनः खय्यम्परे'[3] 'कानाम्रेडिते'[4] इन तीनों सूत्रों को पढ़कर इन्हीं के विषय में यह वार्त्तिक भाष्य में पढ़ा गया है । येतीनों सूत्र 'सं' 'पुं' और 'कान' के 'मकार' और 'नकार' को यथोक्त निमित्त परे रहते 'रुत्व' करते हैं । 'संपुंकानाम्' यह वार्त्तिक उस 'सकार' का विधान करता है इसके लिए इस वार्त्तिक को बनाना चाहिए । भाष्य में यह वार्त्तिक 'संपुंकानाम् सत्वं' इस रूप में पढ़ा गया है । 'सत्वं' का अर्थ 'सकार' है । 'समः सुटि' इत्यादि तीनों के द्वारा प्रकृत स्थल में अर्थात् 'सं' 'पुं' इत्यादि 'मकारों' को 'रुत्व' के विधान करने पर वार्त्तिककार ने अनिष्ट की प्रसक्ति भी कहा है । महाभाष्यकार ने उस अनिष्ट प्रसक्ति को स्पष्ट किया है । यदि 'सम्' के 'मकार' को 'रुत्व' हो तो 'संस्कर्ता' इत्यादि प्रयोग में 'वाशरि' सूत्र की प्रसक्ति 'पुंस्काम्' यहाँ पर 'ईदूदुपधस्य' इस सूत्र के द्वारा 'सत्व' की प्रसिक्ति तथा 'कांस्कान्' यहाँ पर 'कुप्वोः' इस सूत्र के द्वारा 'जिह्वामूलीय' की प्रसक्ति होगी, क्योंकि इन प्रयोगों में 'रुत्व' होने के बाद विसर्ग की प्रसक्ति तथा विसर्ग के अनन्तर उपर्युक्त विधियाँ प्राप्त होने लगेंगी किन्तु इन प्रयोगों में 'सकार'

---

1. लघुसिद्धान्त कौमुदी, हल्सन्धि प्रकरणम्, पृष्ठ 94.
2. अष्टाध्यायी, 8/3/5.
3. वही, 8/3/6.
4. वही, 8/3/12.

ही इष्ट है । अत: इस वार्त्तिक के बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । अत: 'लाघवात् रुत्वादि' को बाधकर 'सं' 'पुं' इत्यादि 'मकार' और 'नकार' के स्थान पर 'शकार' का ही विधान करना चाहिए । इस प्रकार इस वार्त्तिक के द्वारा विहित 'शकार' को 'स सजुषो रु:'[1] इस सूत्र के द्वारा 'रुत्व' नहीं होता है क्योंकि सूत्र की दृष्टि में वार्त्तिक 'कृत' सत्त्व' असिद्ध हो जाता है अत: 'संस्कर्त्ता' आदि प्रयोगों में पूर्वोक्त दोष निरस्त हो जाता है । वृत्तिकार ने 'संस्कर्ता' इत्यादि प्रयोगों में 'सम: सुटि'[2] इस सूत्र से 'रुत्व' के विधान करने पर भी 'वाशरि' की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि उसमें 'व्यवस्थित विभाषा' आश्रित है । अत: 'विसर्जनीयस्य स:'[3] इस सूत्र से 'सत्व' होकर 'संस्कर्ता' प्रयोग की सिद्धि होती है । अत: उनकी रीति से इस वार्त्तिक से 'पुंकान्" में ही सत्व विधान सार्थक है । किन्तु प्रकृत भाष्य की पर्यालोचना से वृत्तिकार का मत विरुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि भाष्यकार ने 'वाशरि'[4] सूत्र की आपत्ति दिया है । अत: व्यवस्थित विभाषा का आश्रय उचित नहीं है।

इस वार्त्तिक के उदाहरण संस्कर्ता, पुंस्कोकिल:, कांस्कान इत्यादि हैं । इन प्रयोगों में सं पुं और कान के मकार और नकार को सकार होता है

---

1. अष्टाध्यायी 8/2/66.
2. वही, 8/3/5.
3. वही, 8/3/34.
4. वही, 8/3/36.

उसके पूर्व में पाक्षिक अनुस्वार और उसके अभाव में अनुनासिक होता है । 'रुत्व' के अभाव में तत् सन्नियोग शिष्ट अनुस्वार और अनुनासिक भी नहीं होंगे ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि ये दोनों 'रुत्व' के सन्नियोगाशिष्ट नहीं है । अपितु 'रुत्व' के प्रकरण में जिसका भी विधान होता है उसके सन्नियोग शिष्ट हैं । इस वार्त्तिक से 'सत्व' का विधान 'रँ' प्रकरण में ही होता है । अतः 'अनुनासिक' और 'अनुस्वार' की प्रवृत्ति हो जाएगी । यह प्रदीप और उद्योत में स्पष्ट है ।

यहाँ 'अत्रानुनासिक:'[1] पूर्वस्य तुवा' इत्यादि सूत्र में 'अत्र' शब्द का ग्रहण 'रुत्व' के सन्नियोग की प्रतिपत्ति के लिए है । इस वृत्ति ग्रन्थ का आश्रय 'रु' प्रकरण विधेय से है । यह न्यास एवं पदमंजरी में स्पष्ट है । अतएव भाष्यादि ग्रन्थों में इस वार्त्तिक से 'सत्त्व' विधान होने पर उक्त प्रयोगों में 'अनुस्वार' और अनुनासिक' की अनापत्ति रूप दोष नहीं दिया है । इससे यह ज्ञात होता है कि ये दोनों 'रु' प्रकरण विधेय सन्नियोगशिष्ट ही है । अतः वार्त्तिक के द्वारा 'सत्व' विधि में भी इन दोनों की पाक्षिक प्रवृत्ति होगी ही । इसी प्रकार 'समो वा लोपम एक इच्छन्ती' इस भाष्य के अनुसार 'सम' के मकार' के लोप होने पर भी 'रु' प्रकरण विधेय होने से 'अनुस्वार' और 'अनुनासिक' होते ही हैं । प्रातिशाख्य में जो यह कहा गया है कि 'नकार'

---

1. अष्टाध्यायी 8/3/2.

और 'मकार' को 'रु' करने पर ही 'उपधारन्जन' ‖अनुस्वार और अनुनासिक‖ होगा लोप और प्रकृतिभाव करने पर नहीं होगा वह ठीक नहीं है यह लघुशब्देन्दु शेखर में स्पष्ट है क्योंकि वह उस शाखा के प्रयोग के लिए है। भाष्यकार ने उन्हीं तीन सूत्रों से इन प्रयोगों में 'सकार' का विधान कर इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है। 'समः सुटि' सूत्र में 'द्विसकारक' निर्देश माना है। यह भाष्य की उक्ति 'द्विसकारक' निर्देश 'वाशरि' इस सूत्र से विसर्ग पक्ष अभिप्राय से है। 'समः' में विभक्ति के 'सकार' पक्ष में त्रिसकारक निर्देश होना चाहिए। पहला, विभक्ति 'सकारः, दूसरा आदेश सकार, तीसरा सुटि का सकार। यही 'प्रश्लिष्ट सकार' उत्तर सूत्र में भी अनुवृत्त होता है अतः उन दोनों सूत्रों से भी 'पुं' और 'कान्' के 'मकार' और 'नकार' को 'सकार' होता है। 'सं पुं कानां' यह वार्त्तिक करने की आवश्यकता नहीं है। उक्त सकार की अनुवृत्ति करने पर मध्यवर्ती सूत्र 'नश्छव्यप्रशान्'[1] की अनुवृत्ति होगी और अनिष्ट प्रयोग की आवृत्ति होगी ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसका समाधान भाष्य कार ने स्वयं ही दे दिया है। उन्होंने कहा है कि सम्बन्ध की अनुवृत्ति होगी न कि केवल सकार की। अतः मध्यवर्ती सूत्रों में अनुवृत्ति होने पर भी वह 'सकार' अपने प्रकृति सम्बन्ध को नहीं छोड़ेगा। यह प्रकृति सूत्र के प्रदीप उद्योत में स्पष्ट है। भाव यह है कि 'नश्छव्यप्रशान्' इत्यादि मध्यवर्ती सूत्रों में अपने प्रकृति से सम्बन्धित 'सकार' की अनुवृत्ति होगी। अतः मध्यवर्ती सूत्र की

---

1. अष्टाध्यायी 8/3/7

प्रकृति के साथ 'सकार' का सम्बन्ध नहीं होगा । इष्ट सूत्र में अपनी प्रकृति को छोड़कर 'सकार' मात्र की अनुवृत्ति होगी । यह तथ्य न्यास पदमञ्जरी में भी स्पष्ट है । इस प्रकार भाष्य प्रमाण्य से सूत्रों के द्वारा ही 'सत्त्व' विधान सिद्ध होने से यह वार्त्तिक नहीं करना चाहिए ।

----------··0··----------

तृतीय प्रकरणम्

सुबन्त प्रकरणम्

तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्[1]

'अनन्तरं बाह्ययोगोपसंख्यानयोः'[2] इस सूत्र के भाष्य पर 'वा प्रकरणे तीयस्य ङित्सुपसंख्यानम्' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । यह वार्त्तिक 'ती' प्रत्ययान्त को 'ङित्' प्रत्यय परे रहते सर्वनाम संज्ञा का विकल्प करता है संज्ञा विकल्प के तत्प्रयुक्त कार्यों का भी विकल्प सिद्ध होता है । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय, तृतीयस्मै, तृतीयाय ये प्रयोग हैं । 'द्वेस्तीयः'[3] 'त्रेः सम्प्रसारण च'[4] इन सूत्रों से द्वि, तृ, शब्द से 'ती' प्रत्यय होता है । यहाँ सर्वनाम संज्ञा की प्राप्ति नहीं है । वार्त्तिक अप्राप्त विभाषा है । इस वार्त्तिक से ही संज्ञा की सिद्धि हो जाने पर 'विभाषाद्वितीयातृतीयाभ्याम्'[5] इस सूत्र को करने की आवश्यकता नहीं है । इसी वार्त्तिक से ही उक्त सूत्र प्रयुक्त कार्य की सिद्धि हो जाती है । द्वितीयस्यै, तृतीयस्यै, द्वितीयायै, तृतीयायै ये प्रयोग उक्त सूत्र

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अजन्त पुल्लिङ्ग प्रकरणम्, पृष्ठ 151.
2. अष्टाध्यायी 1/1/36.
3. वही, 5/2/54.
4. वही, 5/2/55.
5. वही, 6/3/115.

से साध्य है । इन प्रयोगों में द्वितीया, तृतीया शब्द को लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के द्वारा तो प्रत्ययान्त मानकर उक्त वार्त्तिक से सर्वनाम संज्ञा विकल्प से सिद्ध हो जाती है । सूत्र के द्वारा वार्त्तिक गतार्थ नहीं हो सकता क्योंकि पुल्लिंग प्रयोग में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प सूत्र से नहीं सिद्ध हो सकता है । वार्त्तिक की अपेक्षा सूत्र अल्पविषयक है । यह वार्त्तिक भाष्यरीति के अनुसार वाचनिक है क्योंकि सर्वनाम संज्ञा विकल्प का साधन कोई प्रकारान्तर नहीं दिखाया गया । न्यासकार ने 'विभाषा जसि'[1] इस सूत्र से विभाषा योग विभाग कर इस वार्त्तिक के अर्थ की सिद्धि किया है । उनके मतानुसार उपसंख्यान शब्द का प्रतिपादन ही अर्थ है । वह प्रतिपादन विभाषा इस योग-विभाग से किया गया है । विभाषायोग में सर्वदीनि और द्वन्द्वे पद का सम्बन्ध नहीं किया गया है। इससे विभाषा योग से 'ती' प्रत्ययान्त विकल्प से 'ती' सिद्ध हो जाती है । योग विभाग की इष्ट सिद्धि के लिए लक्ष्यानुसार व्याख्या करने से अतिप्रसक्ति भी नहीं होती है । अत: इनके मत से यह वार्त्तिक अपूर्व वचन न होकर सूत्र सिद्धि अर्थ का अनुवादक है किन्तु इस पक्ष में डित् प्रत्यय से भिन्न स्थल में भी अतिप्रसक्ति सम्भव है । अत: यह मत चिन्त्य है । यह यहाँ ध्यान देने की

---

1. 'विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्' इत्येतन्नवक्तव्यं भवति । किं पुनरत्रज्याय:? उपसंख्यानमेवात्र ज्याय: । इदमपि सिद्धं भवति । द्वितीयाय द्वितीयस्मै, तृतीयाय, तृतीयस्मै इति । महाभाष्य 1/1/36.

बात है कि भाष्यकार ने इस वार्त्तिक को मानकर 'विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्यां' इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया गया है किन्तु न्यासकार और पदम जरीकार ने विपरीत सूत्र को ही आश्रयण करके वार्त्तिक का ही प्रत्याख्यान किया है । उनका यह आशय है कि प्रथम प्रवृत्त होने के कारण सूत्र का प्रत्याख्यान उचित नहीं है । अपितु सूत्र का आश्रय लेकर वार्त्तिक प्रत्याख्यान ही उचित है । उनका आशय यह है कि 'विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्यां' सूत्र में 'स्याद् ह्रस्वश्च' का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए । अपितु 'सर्वनाम:' इसी का सम्बन्ध करना चाहिए । इस सूत्र को अतिदेश मान लेना चाहिए 'द्वितीयातृतीयाभ्यां' की जगह पर 'ह्रस्वान्त' 'द्वितीय तृतीयभ्यां' यही पढ़ना चाहिए । तब सर्वनाम को जो कार्य कहा गया है वह 'डित्' प्रत्यय परे रहते द्वितीय तृतीय शब्द से भी विकल्प से होता है । यह सूत्रार्थ सम्पन्न होगा । इससे द्वितीयस्यै द्वितीयाय इत्यादि में 'स्याड्ह्रस्व' के समान द्वितीयस्मै और द्वितीयाय इसमें भी 'सर्वनामत्व' प्रयुक्त अस्मै आदि आदेश विकल्प से सिद्ध होता है । अत: इसके लिए वार्त्तिक करने की आवश्यकता नहीं है । यह तथ्य 'विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्यां' सूत्र में पद म जरी[1] में स्पष्ट है । वार्त्तिक का आश्रयण करने वाले महाभाष्यकार का तात्पर्य है कि 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं' इसके अनुसार वार्त्तिककारीय अर्थ में ही सूत्रकार का भी तात्पर्य है । अत: वार्त्तिक का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है ।

---

1. काशिका न्यास पदमञ्जरी, 7/3/215.

नुमचिरं तृज्वद् भावेभ्योनुद् पूर्वविप्रतिषेधेन [1]

'स्त्रियां च'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'इकोचिविभक्तौ'[3] इस सूत्र से प्राप्त नुम् को 'अचिर ऋतः'[4] इस सूत्र से प्राप्त 'र' आदेश को 'विभाषातृतीयादिष्वचि'[5] इस सूत्र से प्राप्त तृज्वद् भाव को 'नुट्' पूर्वप्रतिषेधेन विप्रतिषेधन बाध लेता है । यह वार्त्तिक का अर्थ है । 'नुट्' पहले पढ़ा गया है और 'नुमादि' बाद में पढ़ा गया है । पर बली होने के कारण 'नुट्' प्राप्त नहीं था अतः पूर्वप्रतिषेध का आरम्भ किया जाता है । इस स्थल पर 'नुम्' का अवकाश 'त्रपुणी' इस प्रयोग में है । 'अग्निनाम' इस प्रयोग में 'नुम्' का अवकाश है 'त्रपूणां' इस प्रयोग में दोनों की प्राप्ति होने पर पूर्वविप्रतिषेध से 'नुट्' होता है । 'तिस्रः' इस प्रयोग में 'अचिर' आदेश का अवकाश है । नुट् का अवकाश उक्त स्थल में दर्शाया गया है । 'तिसृणाम्' इस प्रयोग में दोनों की प्राप्ति होने पर पूर्व विप्रतिषेध से नुट् होता है । तृज्वद भाव का अवकाश 'क्रोष्टा' इस प्रयोग में है । नुट् का अवकाश दर्शाया गया है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अजन्त पुल्लिंग प्रकरणम् , पृष्ठ 191.
2. अष्टाध्यायी, 7/1/96.
3. वही, 7/1/73.
4. वही, 7/2/100.
5. वही, 7/1/97.

'क्रोष्टूनां' इस प्रयोग में दोनों की प्राप्ति होने पर पूर्वविप्रतिषेध से नुट् होता है । इस प्रकार 'त्रपूणां' त्रिस्रणाम्, क्रोष्टूनाम् आदि इस वार्त्तिक के उदाहरण माने जाने चाहिए ।

अब शंका करते हैं कि क्रोष्टूनाम' इस स्थल में तृज्वद् भाव करने पर भी 'ह्रस्वनद्यापोनुट्'[1] इस सूत्र से 'नुट्' की प्राप्ति होती है तथा उसके 'नकं करने पर भी वह प्राप्त होता है । अतः 'नुट्' नित्य हो जाता है । तृज्वद् भाव तो 'नुट्' करने के बाद 'अजादित्व' के अभाव से अप्राप्त होता है । अतः वह अनित्य है । इस स्थिति में नित्य और अनित्य 'नुट्' और तृज्वद् भाव के रहने पर विप्रतिषेध कैसे हो सकता है क्योंकि तुल्यबल में ही विप्रतिषेध का होना उचित होता है । नुट् तो अनित्य होने से अधिक बल है । इस शंका का समाधान करते हैं कि तृज्वद् भाव के कर देने पर सन्निपात परिभाषा के विरोध से नुट् प्राप्त नहीं होता अतः नुट् भी अनित्य हो जाता है । इसलिए समबल होने से विप्रतिषेध का होना समुचित है । इस पर भी विप्रतिषेध को अयुक्त सिद्ध कर रहे हैं । क्योंकि 'र' आदेश बाध्य सामान्य चित्त पक्ष के अनुसार गुण दीर्घ और 'उत्व' के समान नुट् का भी अपवाद है । अर्थात् स्व-विषय में जो जो प्राप्त हो वह सब बाध्य सामान्य चिन्ता से 'र' आदेश से बाधित होगा । जैसे 'तिस्त्रः' इत्यादि स्थल में 'गुण दीर्घादिक' बाधित होते हैं । इस

---

1. अष्टाध्यायी 7/1/54.

प्रकार 'त्रिस्रनाम्' इस प्रयोग में नुट् भी 'अपवादत्वेन' बाधित होगा । विप्रतिषेध से 'नुट्' बाध नहीं कर सकता, क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद का विप्रतिषेध उपयुक्त नहीं होता । इस बात को वार्त्तिककार और भाष्यकार ने कहा है । 'न वा नुट् विषयेरप्रतिषेधात् इति' न वैतद्विविप्रतिषेधेन नापि सिध्यति तिस्रणाम् चतस्त्रण इति, नुट के विषय में 'र' का प्रतिषेध होने से पूर्वकथन उपयुक्त नहीं है और विप्रतिषेध से भी यह सिद्ध नहीं होता है । तिस्त्रणाम् चतस्त्रणाम् इति तो कैसे सिद्ध होगा ? नुट् के विषय में 'र' का प्रतिषेध होने से ? नुट् के विषय में प्रतिषेध करना, कहना चाहिए ? अन्यथा सभी का अपवाद हो जाएगा अर्थात् 'र' आदेश अन्यथा सभी का अपवाद हो जाएगा । वह जैसे-गुण एवं पूर्व सवर्ण को बाधता है इसी प्रकार नुट् को भी बाधित करेगा । इस पर कहते हैं कि न तिस्त्रि चतस्त्रि इस निषेध रूप ज्ञापक के द्वारा 'र' आदेश से नुट् बाधा जाएगा । ऐसा ज्ञापन करेंगे अन्यथा तिस्त्रिणाम् इस प्रयोग में नुट् को बाधकर 'र' आदेश होने पर नुट् की अप्राप्ति से नाम इस शब्द के स्वरूप के न रहने पर और अजन्त अंग के अभाव से 'नाभि'[1] इस सूत्र की प्राप्ति नहीं होगी । इस स्थिति में न तिस्त्रि चतस्त्रि यह निषेध व्यर्थ हो जाएगा और यह निषेध व्यर्थ होकर 'र' आदेश नुट् का अपवाद नहीं होगा यह ज्ञापन करेंगे । इस विषय में बाध्य सामान्य चिन्ता पक्ष का आश्रयण नहीं किया जाता है और जब 'र' आदेश नुट् का अपवाद नहीं बनेगा तो नुट् और 'र' आदेश का विप्रतिषेध

---

1. अष्टाध्यायी, 6/4/3.

समुचित ही होगा । जैसा कि भाष्यकार ने अपने शब्दों में कहा है - 'आचार्य-प्रवृत्ति ज्ञापयति न रादेशो नुटं बाधते इति' यदय 'न तिसृचतसृ' इति निषेधं शास्ति । यहाँ पर पूर्वप्रतिषेध अपूर्व नहीं है । अपितु 'विप्रतिषेधे परं कार्यं'[2] इस सूत्र में पर शब्द को इष्टवाची मानने से स्वतः सिद्ध हो जाता है । विप्रतिषेध में जो इष्ट हो वह होता है । इस बात को भाष्यकार ने कहा है कि तो क्या ?[3] पूर्व विप्रतिषेध को कहना चाहिए ? फिर कहाँ नहीं कहना चाहिए । क्योंकि इष्टवाची पर शब्द होने से विप्रतिषेध में जो इष्ट होवे वह होता है । यद्यपि यह भाष्य प्रकृति वार्त्तिक के अव्यवहित पूर्व गुण वृद्ध्यौत्व 'तृज्वद् भावेभ्यो नुम् विप्रतिषिद्धं' इस वार्त्तिक को अधिकृत्य करके प्रवृत्त है तो भी तुल्य न्याय से प्रकृत वार्त्तिक में भी समायोजित किया जा सकता है । इसलिए 'तृज्वद्भावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम् नुटौ भवतः'[4] इस काशिकावृत्ति ग्रन्थ का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने 'नुम्' और 'नुट्' दोनों के विषय में पर शब्द को इष्टवाची मानकर पूर्वविप्रतिषेध को सिद्ध[5] किया है । अतः यह वार्त्तिक पर शब्द को इष्टवाची मानकर न्यायसिद्ध माना जाता है न कि वाचनिक ।

---

1. महाभाष्य 7/1/95-97
2. अष्टाध्यायी 1/4/2.
3. महाभाष्य 7/1/95-96.
4. काशिका 7/1/97.
5. "क्रोष्टूनामित्यत्रोभय प्रसङ्गे सति नुड् भवति पूर्वविप्रतिषेधेनेति । पूर्वविप्रतिषेधस्तु परशब्दस्येष्टवाचित्वाल्लभ्यते ।

   - न्यास पदमञ्जरी, 7/1/97.

दृन्कर पुन: पूर्वस्य भुवोयण्वक्तव्य:[1]

'वर्षाभ्वश्च'[2] इस सूत्र में 'वर्षाभ्व न भ्वंश्च' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। इस वार्त्तिक के ऊपर 'वर्षाभू' इस जगह पर 'पुनर्भ्वंश्च' ऐसा कहना चाहिए। यह भाष्य है। इस वार्त्तिक का अनुसन्धान करके भाष्यकार ने आगे कहा कि यह बहुत कम कहा जा रहा है। 'वर्षाद्, दृन्कार पुन: पूर्वस्य भ्व' ऐसा कहना चाहिए 'न भू सुधियो:'[3] इस सूत्र से 'ओ: सुपि'[4] इस सूत्र से प्राप्त 'जड़' आरम्भ किया जाता है। इसका उदाहरण दृन्भ्वो, दृन्भ्व:, कारभ्वो, कारभ्व:, पुनर्भ्वौ पुर्नभ्व: इत्यादि भाष्य में कहे गए हैं। वहाँ 'दृन्भू' शब्द हिंसार्थक 'दृन्' अव्यय पूर्वक 'भू' धातु 'क्विप्' करने से बनता है। प्रक्रिया प्रकाश में तो दृढ़ो भवति' इस विग्रह में 'दृढ भू' की व्युत्पत्ति[5] की गई है। 'उणादि' निपातन के द्वारा 'दृढ' शब्द के स्थान पर 'दृन्' आदेश करना पड़ेगा। 'नान्त दृन्' अव्यय रहने पर 'भू' धातु से 'क्विप्' करके 'किप्' पक्ष भी वहाँ दिखाया[6] गया है। 'दृभू' धातु से औणादिक 'उत्' प्रत्यय के

---

1. लघुसिद्धान्त कौमुदी, अजन्त पुल्लिंग प्रकरणम्, पृष्ठ 196.
2. अष्टाध्यायी, 6/4/84.
3. वही, 6/4/85.
4. वही, 6/4/83.
5. दृढ़ोभवतीति दृन्भू: । तत्सर्पजातिभेद: । उणादिषु निपातनात् दृढ़शब्दस्य-दृन्नादेश: । - प्रक्रियाप्रकाश, 6/4/84.
6. श्रीपतिस्तु दृन्नितिनान्ते हिंसार्थेऽव्यये भुव: क्विवित्याह । वही, 6/4/84.

द्वारा 'अन्दू' 'दृम्भू' इत्यादि 'उणादि' सूत्र से निपातित 'दृन्भवति' इत्यर्थक दृम्भू' शब्द बनाने से 'भू' शब्द अनर्थक हो जाएगा। वहाँ इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति नहीं होगी। अत: वहाँ पर 'इकोयणचि'[1] से 'यण्' ही होगा। और वह यण् अम् और शसि विभक्ति में पूर्वरूप एवं पूर्वसवर्ण दीर्घ से बाधित होगा। अत: 'अम्' विभक्ति 'दृम्भू' और 'शसि' में 'दृम्भून्' यह रूप होंगे। उक्त 'भू' धातु प्राकृतिक 'दृम्भू' शब्द में जो वार्त्तिक का विषय है वहाँ 'अम्' और 'शसि' विभक्ति में 'पूर्वरूप' एवं 'पूर्वसवर्ण दीर्घ' को बाधकर 'परत्वात्' इससे 'यण्' होगा। 'दृम्भू' 'दृंभ्व:'। इसी प्रकार 'श्वलपू' शब्द को भी जानना चाहिए। इस वार्त्तिक का व्याख्यान करते हुए कैय्यट ने 'अन्दू दिन्भू' इत्यादि सूत्र से व्युत्पादित 'दिन्भू' शब्द माना है। उसमें भू शब्द अनर्थक है। 'न भू सुधियो:' इस निषेध सूत्र में उसका ग्रहण न होने से उन्होंने 'यण्' आदेश को सिद्ध माना है। उक्त 'दृन्भू' शब्द में पूर्वरीति से 'यण्' आदेश के लिए वार्त्तिक में 'दृन्भू' शब्द ग्रहण करना नहीं चाहिए। कैय्यट के इस आशय को नागेश ने असंगत माना है उनका कहना है कि 'दृ पूर्वक भू' धातु से 'क्विप्' के द्वारा निष्पन्न 'दृन्भू' शब्द में यण् करने के लिए वार्त्तिक में 'यण्' की सिद्धि के लिए वार्त्तिक का उपयोग नहीं है। अत: वह 'दृन्भू' शब्द वार्त्तिक का उदाहरण नहीं हो सकता। यह तात्पर्य उक्त कैय्यट का हो सकता है। इसका

---

1. अष्टाध्यायी, 6/1/77.
2. किं च दृन्नित्तिनान्त उपपदे 'भुव: क्विपि' निष्पन्नदृम्भूशब्दार्थं वार्त्तिके दृन्भू ग्रहणस्यावश्यकत्वाच्चिन्त्यमिदम्। - उद्योत 6/4/84.

यह अर्थ नहीं है कि प्रकारान्तर से निष्पन्न 'भू' प्रकृतिक 'दृन्भू' शब्द है ही नहीं। 'अवणादिक' वह शब्द है वहाँ पर वार्त्तिक का उपयोग नहीं है। अत: वार्त्तिक में 'दृन्' ग्रहण व्यर्थ है। ऐसा कैय्यट का तात्पर्य मानना चाहिए। नागेश ने अन्यथा निष्पन्न 'दृन्भू' शब्द की दृष्टि से कैय्यट वचन को चिन्त्य कहा है। प्रक्रिया कौमुदी में तो 'दृकारापुनर्भ्वश्चेति वक्तव्यम्' ऐसा कहा गया है। अत: वहाँ 'दृन्' शब्द के स्थान पर 'दृक्' शब्द पढ़ा गया है। दृग्भ्वौ, दृग्भ्व: यह उदाहरण भी दिए गए है। यह दृक् शब्द का पाठ भाष्य सम्मत नहीं है। इस प्रकार का आशय प्रक्रियाप्रकाश[1] में स्पष्ट है। मनोरमाकार[2] ने भी 'दृक्' शब्द पाठ में अपनी अस्वीकृति व्यक्त की है। अत: 'दृग्भू' शब्द में 'वङ्' आदेश ही होगा। 'यण्' आदेश नहीं होगा। 'कारभ्वौ' यहाँ पर 'कर' शब्द में स्वार्थिक 'अण्' करके 'कार' शब्द सिद्ध करके बनाया जाता है। यहाँ पर यह समझना चाहिए कि भाष्यकार का यह दीर्घ पाठ ही दिखाई पड़ता है। वहाँ पर 'कर' एवं कार:' यह व्युत्पत्ति माननी चाहिए। अनुस्मृति में तो कर इस प्रकार का 'ह्रस्व' पाठ ही उपलब्ध होता है। उसके अनुरोध से दीक्षितजी ने सिद्धान्तकौमुदी में 'दृन्कर पुन: पूर्वश्च' इस प्रकार पढ़ा है जिसे उसी रूप में लघु सिद्धान्त कौमुदीकार ने भी स्वीकार किया है। परन्तु दीर्घ पाठ भी

---

1. दृक्कारेति दृक् शब्द पाठस्तु नाकार: सूत्र वृत्त्युदाहरणव्याख्यासु तन्त्रान्तरे - प्यनुपलम्भात्। प्रक्रियाप्रकाश 6/4/84.

2. प्राचा तु दृम्भूकाराभूशब्दौ वर्षाभूशब्दवदुदाहृतौ, तन्निर्मू[illegible]मिति भाव प्रौढ मनोरमा अज[illegible] प्रकरणम्।

शब्द बनता है । यह शब्द बन्धन स्थान एवं 'कारागृह' में प्रयुक्त होता है । यह 'कारा' शब्द का पाठ वृत्ति और प्रक्रिया कौमुदी में यद्यपि देखा गया है तथापि भाष्य में अनुक्त होने से निर्मूल है । यह आशय मनोरमा और प्रक्रिया-प्रकाश[1] में स्पष्ट है । यद्यपि भाष्य[2] में 'कार' शब्द का पाठ होने से 'अङ्' प्रत्ययान्त 'कार' शब्द से ही टाप् करने से 'कारा' शब्द के निष्पन्न होने से पूर्वान्तवत् भाव से 'कार' शब्द से 'कारा' शब्द का ग्रहण करके 'काराभू' शब्द 'यण' का उत्पादन किया गया है । वह भी रमणीय नहीं है क्योंकि भाष्य में 'कार' शब्द का पाठ होने पर भी प्रसिद्धिवश 'ह्रस्वपाठ' एक वाक्यता के अनुरोध से भी 'हस्तवाची कर' शब्द प्रकृतिक 'स्वार्थिक अण्' प्रत्ययान्त 'कार' शब्द का ही वहाँ ग्रहण है न कि 'ण्यन्त' 'कृ' धातु से 'अङ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न अप्रसिद्ध 'कार' शब्द का ग्रहण है । अतः पूर्वान्तवत् भाव से 'टाप्' करने पर भी 'कारा' शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता है । शब्दरत्न में भी इसका स्पष्टीकरण किया गया है । 'पुनर्भू' शब्द 'दिरूढा' में 'रूढ' है । 'रूढ' और 'नित्य स्त्रीलिङ्ग' है । 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढादि' ॥अमर०॥ पुनर्भवति इति पुनर्भू इस व्युत्पत्ति

---

1. अत्र कारा शब्द पाठो नाकरः भाष्यादौ कर शब्दस्यैव दर्शनात् ।

   - प्रक्रियाप्रकाश 6/4/84.

2. काराभूरित्यत्र काराशब्दः करोते र्ण्यन्तात् भिदाधङिनिष्पन्नो बन्धनग्रह-वाचकस्तस्यटापा सहैकादेशस्य पूर्वान्तत्वे पि वार्त्तिके ग्रहणं न प्रसिद्धत्वेन ह्रस्वपाठेक वाक्यतया च हस्तवाचकस्यैव ग्रहणादिति भावः ।

   - मनोरमा शब्दरत्न 6/4/84.

में 'क्रिया' शब्द होने से यह शब्द 'सर्वलिङ्ग' है । इसीलिए दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी और आचार्य वरदराज ने लघुसिद्धान्त कौमुदी के पुल्लिङ्ग प्रकरण में 'पुनर्भू' शब्द का उदाहरण दिया है । तथा प्रमाण के रूप में 'पुनर्भ्वौगिक: ' पुंसि ' यह कहा है । इस वार्त्तिक का विषय 'दृग्भू' शब्द 'स्वम्भू' की तरह 'वङ्.' का विषय है । 'यण्' का नहीं । इसी तरह से 'करभू' शब्द भी है । 'करभू', 'कारभू' शब्द भी पाठभेद 'यण्' 'वङ्.' दोनों का विषय है । 'ह्रस्व पाठ' में 'करभू' शब्द में 'यण्' कारभू' शब्द में 'वङ्. ' एवं 'दीर्घ पाठ' में 'कारभू' शब्द में 'यण्' और 'करभू' शब्द में 'वङ्.' होता है । 'पुनर्भू' शब्द 'रूढ़' और 'यौगिक' दोनों इस वार्त्तिक के विषय है । यह वार्त्तिक भाष्य से 'पुनर्भू' आदि का संग्रह नहीं कहा गया है । मनोरमाकार[1] और न्यासकार[2] ने 'वर्षाभ्वश्च' इस सूत्र से 'चकार' को अनुक्त समुच्चयार्थक मानकर वार्त्तिक के अर्थ का संग्रह कर लिया है अत: उनके मत में यह वार्त्तिक व्याख्यान सिद्ध है ।

---

1. 'वर्षाभ्वश्च' इति चकारो नुक्तसमुच्चयार्थ: अनुक्तं च भाष्यं वार्त्तिकवलान्तिर्णेयमिति भाव: । प्रौढ़ मनोरमा 6/4/84.

2. तत्रेदं व्याख्यानम् - चकारो त्रक्रियते, सचानुक्तसमच्चयार्थ: । तेन पुनर्भिर्वत्यस्थापि भविष्यतीति ।

॥न्यासकार॥

ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्[1]

'रषाभ्यां नोण:[2] समान पदे' इस सूत्र के भाष्य में 'रषाभ्यां णत्वे ऋकार ग्रहणम्' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। इसी वार्त्तिक को फलितार्थ रूप में लघुसिद्धान्त कौमुदी में आचार्य वरदराज ने लिखा है। मातृणां पितृणां इत्यादि प्रयोगों में णत्व के लिए इस वार्त्तिक का प्रयोग किया गया है। 'रषाभ्यां' सूत्र के द्वारा 'रकार षकार' के बाद 'नकार' को 'णत्व' किया जाता है। 'मातृणां इत्यादि में 'रकार षकार' के बाद 'नकार' न मिलने से 'णत्व' प्राप्त नहीं था। इस वार्त्तिक के द्वारा 'णत्व' किया जाता है। यहाँ शंका होती है कि 'मातृणां' इत्यादि प्रयोगों में जो 'रेफांश' उसको निमित्त मानकर सूत्र से ही 'णत्व' सिद्ध हो जाएगा। वार्त्तिक व्यर्थ है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा कि 'इस वार्त्तिक को नहीं बनाना चाहिए। 'ऋकार' घटक 'रेफ' को 'निमित्त' मानकर 'णत्व' सिद्ध हो जाएगा। यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'रषाभ्यां नोण: समानपदे' इस सूत्र में 'ष' के साहचर्य से 'रेफ' भी वर्णरूप ही लिया जाएगा और वर्ण वही है जो पृथक यत्न से साध्य[3] हो।' 'ऋकार' घटक 'रकार' वैसा नहीं है। वह वर्ण न होकर वर्णैकदेश है और वर्णैकदेश वर्ण के ग्रहण से ग्रहीत

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अजन्त पुल्लिंग प्रकरण, पृष्ठ 197.
2. अष्टाध्यायी 8/4/2.
3. पृथक् प्रयत्न निर्वर्त्यं वर्णमिच्छन्त्याचार्या: । - न्यास 8/4/1

नहीं होते हैं । अत: वार्त्तिक का आरम्भ करना चाहिए । यह सब बातें महाभाष्य में स्पष्ट है । वस्तुतस्तु भाष्यकार ने इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है । वर्ण का एकदेश वर्ण ग्रहण से ग्रहीत होता है । इस पक्ष में तो स्पष्ट ही वार्त्तिक की उपयोगिता नहीं है । 'ऋकार' घटक 'रेफ' को निमित्त मानकर 'मातृणां' में 'णत्व' नहीं हो सकता क्योंकि मध्यवर्ती 'अज् भक्ति' का व्यवधान है । 'ऋकार' के मध्यभाग में 'रेफ' होता है और उसके दोनों तरफ 'अच्' भाग होता है । वह 'अच्' भाग स्वतंत्र 'अच्' की अपेक्षा विजातीय है । अत: 'अड्ग्रहण' से ग्रहीत नहीं हो पाएगा । 'अट्कुप्वाड्. ' इत्यादि सूत्र से भी 'णत्व' नहीं सिद्ध हो पाएगा । अत: वार्त्तिक करना चाहिए यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि 'अटकुप्वाड्व्यवाये पि'[1] इससूत्र में 'व्यवाये' ऐसा जो विभाग करके 'रकार' 'शकार' के परे 'नकार' को 'णत्व' होता है । यत्किंचित् व्यवधान में यह अर्थ माना जाता है । दूसरा योग 'अट्कुप् वाड्. नुम भि: ' नियमार्थ मान लिया जाता है । इसका अर्थ है 'अडादि' अक्षर 'समामनायिक' वर्णों के व्यवधान में 'णत्व' होता है अन्य के व्यवधान में नहीं होता है । इस नियम से अडादि से अतिरिक्त 'वर्णसमामनायस्थ' वर्ण के व्यवधान की ही व्यावृत्ति होती है । ऋकार घटक अच् भाग अक्षर समामनायस्थ नहीं है । अत: 'व्यवाये' इस पूर्वयोग 'मातृणां' इत्यादि प्रयोगों में 'णत्व सिद्ध हो जाता है । अत: वर्णैकदेश ग्रहण पक्ष में वार्त्तिक की आवश्यकता नहीं है । वर्णैकदेश के अग्रहण पक्ष

---

1. अष्टाध्यायी, 8/4/2.

में भी इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि क्षुभ्नादिगण में तृपनोति' शब्द के पाठ के सामर्थ्य से 'ऋकार' के परे 'नकार' को 'णत्व' होता है यह ज्ञापन हो जाता है। यदि ऋकार के परे णत्व की प्राप्ति न हो तो क्षुभ्नादिगण में तृपनोदि का पाठ व्यर्थ हो जाएगा। अतः यह वार्त्तिक ज्ञापक सिद्ध ही है। अपूर्व वचन रूप नहीं है अथवा 'छन्दसि वग्रहात्' इस णत्व विधायक सूत्र में 'ऋतः' यह योग विभाग किया जाता है और उसमें 'नो णः' इसका सम्बन्ध किया जाता है। इस प्रकार 'ऋकार' के परे 'नकार' को णत्व सिद्ध हो जाता है। अतः अपूर्व वचन वार्त्तिक करने की आवश्यकता नहीं है। यह सब 'रषाभ्यां नोणः समानपदे' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। काशिका में भी वर्णैकदेश के अग्रहण पक्ष में क्षुभ्नादिगण में पठित 'तृपनोदि' शब्द के सामर्थ्य से ऋवर्ण के परे णत्व होता है। ऐसा भाष्योक्त प्रकार को माना गया है। काशिका में एक और प्रकार से णत्व की सिद्धि की गई है। 'रषाभ्यां नोणः समानपदे' इस सूत्र में 'र' यह वर्ण का निर्देश नहीं है अपितु 'र' श्रुति सामान्य का निर्देश है। उसका अर्थ है 'र' इति श्रुतिः श्रवणेन उपलब्धिः यस्या सा तत्सामन्यम्' अर्थात् 'र' इत्याकारक वर्णात्मिका अथवा 'अवर्णात्मिका व्यक्ति ग्रहीत है। तादृश ।श्रुति। व्यक्ति ग्रहीत है। वैसी श्रुति या व्यक्ति मातृणां में भी उपलब्ध है। अतः 'र' श्रुति सामान्य 'ऋ' में उपलब्ध होता है। 'मातृणां' इत्यादि णत्व सिद्ध हो जाता है। यह पदमंजरी में स्पष्ट है। इस पक्ष में भी 'अज् भक्ति व्यवधान' रूप दोष को हटाने के लिए 'क्षुभ्नादिगण' पठित 'तृपनोदि' इत्यादि शब्द की ज्ञापकता माननी ही पड़ेगी। यह सब काशिकावृत्ति में स्पष्ट है।

यद्यपि यह 'र' श्रुति पक्ष प्रकृति सूत्र के भाष्य में उपन्यस्त नहीं है । तथापि 'एओड'[1] इस सूत्र के भाष्य में वर्णैकदेश के अग्रहण पक्ष के उपपादन के अवसर पर प्रक्लृप्त: इत्यादि प्रयोगों में लत्व सिद्धि के लिए कहा गया है कि 'कृपा रोल:' इस सूत्र में उभयत: स्फोट मात्र का निर्देश है 'र' श्रुति 'ल' श्रुति होती है । तुल्यनाय से वह प्रकार यहाँ भी आश्रित किया जा सकता है । अत: यह भी प भाष्य सम्मत ही है । भाष्यकार ने क्षुभनादिगण पठित तृपनोति इत्यादि शब्द की ज्ञापकता को अवश्य आश्रयण करने के कारण प्रकृति सूत्र में उक्त पक्ष को नहीं उठाया है । इस प्रकार वर्णैकदेश के ग्रहण अथवा अग्रहण पक्ष में मातृणां इत्यादि प्रयोगों में णत्व सिद्धि के लिए इस वार्त्तिक का अपूर्ववचन रूप में आरम्भ नहीं करना चाहिए ।

औङ् श्यां प्रतिषेधो वाच्य:[3]

'यस्येति च'[4] इस सूत्र के भाष्य में 'यस्य इत्यादौ श्यां प्रतिषेध:' इस रूप से यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । इस वार्त्तिक के द्वारा 'यस्येति च' सूत्र से

1.

2. अष्टाध्यायी 8/2/18.

3. लघु सिद्धान्त कौमुदी अजन्तनपुंसकलिंग प्रकरण, पृष्ठ 224.

4. अष्टाध्यायी 6/4/148.

प्राप्त तथा तद् उत्तरवर्त्ती 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधाया:'[1] इस सूत्र से प्राप्त लोप को सी विभक्ति परे रहते प्रतिषेध किया जाता है । वार्त्तिक में आदि पक्ष से 'सूर्यतिष्य' इत्यादि विधि का ग्रहण है । 'श्यां' इसमें 'स्त्रीलिङ्ग' का निर्देश विभक्ति की अपेक्षा से किया गया है । इसका उदाहरण 'काण्डे सौर्ये' इत्यादि दिया गया है । 'काण्डे' इस प्रयोग में 'काण्ड' शब्द से 'औ' विभक्ति, उसके स्थान में 'नपुंसकाच्च'[2] इस सूत्र से 'सी' आदेश होता है तथा उसको 'स नपुंसकस्य'[3] इस सूत्र में 'अनपुंसकस्य' ऐसा प्रतिषेध होने से सर्व नाम स्थान संज्ञा नहीं होती है । अतएव काण्ड को 'भ' संज्ञा हो जाती है । तदनन्तर 'यस्येति च' इससे प्राप्त 'अकार' लोप का वार्त्तिक के द्वारा निषेध होता है । 'सौर्ये' इस प्रयोग में 'सूर्येण एक दिक्' इस अर्थ में 'सूर्य' शब्द से 'तेनैक दिक्' इस सूत्र से 'अण्' होता है ततः निष्पन्न 'सौर्य' शब्द से 'सी' परे रहते 'यस्येति च' सूत्र से 'अलोप' होता है तथा 'सूर्यतिष्य' इत्यादि के द्वारा 'य' लोप प्राप्त होता है । इन दोनों लोपों का निषेध वार्त्तिक के द्वारा हो जाता है । वस्तुतस्तु 'सूर्यमत्स्योङ्यान', 'सूर्यागस्त्ययोश्छे च' इन दोनों उत्तर सूत्रस्थ वार्त्तिकों के द्वारा 'य' लोप के परिग्रहण होने से 'सी' परे रहते 'य' लोप प्राप्त नहीं होता है । अतः 'य' लोप के प्रतिषेध के लिए इस वार्त्तिक का उपयोग नहीं है । यह प्रदीप में उल्लिखित है । लघु सिद्धान्त कौमुदी में

---

1. अष्टाध्यायी, 6/4/149.
2. वही, 7/1/19
3. वही, 1/1/43.

यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । उसमें 'अङ्' यह स्वरूप कथनमात्र है । 'सी' का विशेषण नहीं है क्योंकि यह विशेषण 'यश: सी' इस सूत्र से प्राप्त सी की व्यावृत्ति के लिए नहीं है क्योंकि सर्वे इत्यादि प्रयोग में 'भत्व' के अभाव होने से ही लोप की प्रसक्ति नहीं है । यह सब लघुशब्देन्दु[1] शेखर में स्पष्ट है । इस वार्त्तिक का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान कर दिया है । प्रत्याख्यान इस प्रकार है - 'यस्येति च' सूत्र में 'विभाषाङ्श्यिये' इस सूत्र से 'सी' ग्रहण की अनुवृत्ति आती है । 'न संयोगानमन्तात' इस सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति आती है । तदनन्तर वाक्य भेद से सम्बन्ध होता है । 'सी' परे रहते 'यस्येति च' से लोप नहीं होता है । इस प्रकार 'सी' परे रहते लोपा भाव सिद्ध हो जाता है । यह सब बातें भाष्य[2] में स्पष्ट है । न्यासकार[3] ने 'विभाषाङि. श्यो:[4]' इससे विभाषा ग्रहण की अनुवृत्ति मानकर तथा व्यवस्थित विभाषा का आश्रयण कर लोप का अभाव सिद्ध किया है । इस प्रकार भाष्य रीति से और न्यासरीति से भी यह वार्त्तिक व्याख्यान से सिद्ध अर्थ का अनुवादक है । अपूर्व वचन नहीं है ।

---

1. औङ. इति स्वरूप कथनं 'सर्वे' इत्यस्य माधिकारेण सिद्धे: ।
   - लघु शब्देन्दु शेखर, अजन्त नपुंसकलिंग प्रकरणम् ।

2. महाभाष्य, 6/4/148.

3. तत्रेदं व्याख्यानम् - 'विभाषाङिश्यो:' इत्येतत्सूत्रादिभाषाग्रहणं मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्तते । सा च व्यवस्थित विभाषा तेन चानेन सूत्रेण लोपो विधीयते यत्रचोत्तर सूत्रेण तावुभावपि न भवत इति - न्यास 6/4/148.

4. अष्टाध्यायी 6/4/136.

एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्य:[1]

'नेतराच्छन्दसि'[2] इस सूत्र के भाष्य में पर 'इतरच्छन्दसिप्रतिषेधे एकतरात् सर्वत्र' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । यहाँ इतराच्छन्दसि प्रतिषेधे यह अंश अपूर्व है । अत: इसी अंश को लेकर आचार्य वरदराज ने 'एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्य:' यह वार्त्तिक लिखा गया है । यह वार्त्तिक 'अड्डतरादिभ्य: पञ्चभ्य:'[3] इस सूत्र से प्राप्त अद्डादेश को एकतर शब्द से प्रतिषेध करता है । वार्त्तिक में सर्वत्र यह उक्ति 'इतर' शब्द से 'छन्द में ही प्रतिषेध तथा 'एकतर' शब्द से छन्द और भाषा में दोनों में प्रतिषेध के ख्यापन के लिए है । इसका उदाहरण है - एकतरं तिष्ठति, एकतरं पश्य । प्रथम प्रयोग में 'एकतर' शब्द 'स्वन्त' है द्वितीय उदाहरण में 'अमन्त' है । यह वार्त्तिक भाष्यरीति से वाचनिक है । वृत्तिकार ने 'अतो म्'[4] इस सूत्र के बाद 'इतराच्छन्दसि इति वक्तव्यम्' 'इतर' शब्द से छन्द में 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश होता है । यह 'अम्' आदेश 'अद्डादेश' का बाधक है । इस प्रकार 'नेतराच्छन्दसि' इस वार्त्तिक में 'नकार' का ग्रहण व्यर्थ है । अत: वार्तिकस्थ 'न' शब्द पृथक् योग के लिए है । उस 'न' योग 'एकतर' शब्द से प्रतिषेध सिद्ध[5] हो जाता है । इस प्रकार वृत्तिकार को रीति से योग-विभाग से सिद्ध अर्थ का अनुवादक ही यह वार्त्तिक है अपूर्ववचन नहीं है।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, नपुंसकलिंग प्रकरण, पृष्ठ 128.
2. अष्टाध्यायी 7/1/26 3. अष्टाध्यायी 7/1/25.
4. वही, 7/1/24,
5. अतो म्' इत्यस्मादनन्तरमितराच्छन्दसीतिवक्तव्यम्-काशिका 7/1/26.

वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद् भावगुणेभ्यो नुम्पूर्वविप्रतिषेधेन[1]

'स्त्रियां च'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'गुणवृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्व विप्रतिषिद्धम्' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । इसका अर्थ है कि गुण वृद्धि 'औत्त्व तृज्वद् भाव' को 'नुम्' पूर्व विप्रतिषेधेन बाधकर होता है । ये सभी विधियाँ 'नुम्' विधि से पर है । अत: वार्त्तिक वचन के बिना 'नुम्' से उनका बाधन सम्भव नहीं था क्योंकि 'विप्रतिषेधशास्त्र' से पर से पूर्व का ही बाध होता है । अत: वार्त्तिक का आरम्भ किया जाता है । गुण बाध का उदाहरण है त्रपुणे । त्रपुणी इत्यादि प्रयोग में 'नुम्' का अवकाश है । 'अग्नये' इत्यादि प्रयोग में गुण का अवकाश है । 'त्रपुणे' प्रयोग में दोनों की प्रसक्ति है । 'पूर्वविप्रतिषेध' से 'इको चिविभक्तौ' इससे 'नुम्' ही होता है । 'नुम्' से वृद्धि का बाध का उदाहरण 'अतिसखीन' है । 'वृद्धि' का अवकाश पूर्वोक्त प्रयोग में है । 'अति सखीन' में दोनों की प्रसक्ति है । 'पूर्व विप्रतिषेधात्' 'नुम्' होता है । 'नुम्' से 'औत्त्व' बाध का उदाहरण 'त्रपुणि' है । 'अच्च हो:'[3] इस सूत्र से 'औत्त्व' का 'अवकाश' पूर्वोक्त प्रयोग में है । 'त्रपुणि' दोनों की प्रसक्ति है । 'पूर्वविप्रतिषेधात् नुम्' होता है । 'नुम्' से 'तृज्वद् भाव' के बाध का उदाहरण - 'क्रोष्टुने'

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अजन्त नपुंसकलिंग प्रकरणम्, पृष्ठ 231.

2. अष्टाध्यायी, 7/1/96.

3. वही, 7/3/119.

इत्यादि प्रयोग में 'तृज्वद्भाव' के करने अथवा न करने पर भी नुम् की प्रसक्ति है अत: कृताकृत प्रसंग होने से 'नुम्' नित्य है । अत: 'नित्यत्वादेव नुम्' से ' 'तृज्वद् भाव' का बाध हो जाएगा । उसके लिए पूर्वविप्रतिषेधात्' व्यर्थ है । दूसरी बात यह है कि 'नुम्' के नित्य होने के कारण 'नुम्' और 'तृज्वद् भाव में तुल्य बलता न होने से पूर्वविप्रतिषेध अयुक्त है । इस शंका का समाधान देते हैं । जैसे - तृज्वद्भाव के करने पर 'नुम्' की प्राप्ति होती है वैसे ही 'नुम्' करने पर भी 'यदागम' परिभाषा के बल से 'क्रोष्टून' नुम् ' विशिष्ट को भी क्रोष्टु ग्रहण से ग्रहीत होने के कारण तृज्वद् भाव' की प्राप्ति होगी । यहाँ निर्दिश्यमान परिभाषा की प्राप्ति नहीं है क्योंकि 'तृज्वत् 'क्रोष्टु:'[1] सूत्र से षष्ठी निर्देश नहीं है अत: 'नुम्' की तरह 'तृज्वद्भाव' भी नित्य हो जाता है । दोनों नित्यों की प्रसक्ति होने पर 'पूर्वविप्रतिषेध' युक्ति-युक्त है । अत: 'नुम्' के द्वारा 'तृज्वद्भाव' के बाधन करने के लिए वार्त्तिकारम्भ आवश्यक है । यह शब्देन्दुशेखर में स्पष्ट है । भाष्यकार ने प्रथम उपस्थित जस् विभक्ति को छोड़कर ङे. विभक्ति में कोष्टूने यह पूर्वविप्रतिषेध का उदाहरण दिया है । 'विभाषातृतीयादिष्वचि'[2] इस सूत्र से विहित 'तृज्वद् भाव' का उदाहरण दिया है । 'तृज्वद् क्रोष्टु: ' सूत्र से विहित तृज्वत् भाव का उदाहरण नहीं दिया है । इस आशय से प्रक्रिया कौमुदी में 'प्रियक्रोष्टुनि 'यह उदाहरण दिया है । यह आशय प्रक्रिया कौमुदी की

---

1. अष्टाध्यायी 7/1/95.
2. वही, 7/1/97.

टीका प्रक्रियाप्रकाश में स्पष्ट है । इस मत का कौमुदीकार ने मनोरमा ग्रन्थ में उपस्थापन कर दूषित कर दिया है । उनका कहना है कि इस वार्त्तिक में 'तृज्वद्' भाव शब्द से 'तृज्वत् क्रोष्टु: ' सूत्र से विहित 'तृज्वद् भाव' न लेकर 'विभाषा तृतीयादिषु' इस सूत्र से विहित ही लिया जाए । इसमें कोई प्रमाण नहीं भाष्यकारीय उदाहरण के बल से वार्त्तिक के अर्थ में संकोच करना उचित नहीं है क्योंकि उदाहरणों में उतना आदर नहीं दिखाया जाता है । दूसरी बात यह है कि उक्त वार्त्तिक में 'विभाषा तृतीयादिषु' सूत्र विहित वैकल्पिक 'तृज्वद् भाव' मात्र ग्रहण करने से वार्त्तिक में 'तृज्वद् भाव' ग्रहण करना ही व्यर्थ हो जाएगा। 'तृज्वत् भाव' के वैकल्पिक होने से 'तदाभाव' पक्ष में 'पूर्वविप्रतिषेध' के बिना ही 'प्रिय क्रोष्टूने' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हो जाएगी । 'प्रियक्रोष्टू' इत्यादि के वारण के लिए भी 'पूर्वविप्रतिषेध' की आवश्यकता नहीं है । प्रिय क्रोष्टू आदि शब्दों के भाषित पुंस्क के होने के कारण 'तृतीयादिषु भाषित पुंस्कं पुंग्वदा-लवस्य' इति पुग्वद् भाव पक्ष में 'प्रिय क्रोष्ट्रे' यह रूप दुर्वार है । तस्मात् 'तृज्वद् भाव' मात्र विषयक ही यह पूर्वविप्रतिषेध प्रतिपादक वार्त्तिक है । अत: 'नुम्' के द्वारा उभय सूत्र से विहित 'तृज्वद् भाव' बाधित होता है । अत: मनो-रमाकार के मतानुसार 'प्रियक्रोष्टुनि' यही रूप होता है । नागेश ने भी लघु शब्देन्दु शेखर में मनोरमाकार के मत का ही समर्थन किया है । इस वार्त्तिक से बाधित पूर्वविप्रतिषेध अपूर्व या वाचनिक नहीं है । अपितु 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'

---

1. अष्टाध्यायी, 7/1/74.

इस सूत्र से 'पर' शब्द के इष्ट वाचित्व अर्थ मान लेने से सिद्ध है । विप्रतिषेध में जो 'पर' ﴾इष्ट﴿ होता है वही बली होता है । प्रकृत प्रयोग में 'नुम्' ही इष्ट है अत: वही होगा । इस प्रकार जितने भी 'विप्रतिषेध' है वे सभी विप्रतिषेधशास्त्र घट की भूत पर शब्द को इष्ट वाचक मान लेने से सूत्र से ही सिद्ध हो जाते हैं । अतएव भाष्यकार ने कहा है कि 'पूर्वविप्रतिषेध'[1] कहना चाहिए ? नहीं कहना चाहिए । 'पर' शब्द इष्ट वाची है । 'विप्रतिषेध' में जो इष्ट होता है वही बली होता है ।

ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्य:[2]

'न ङि. सम्बुद्धयो:'[3] इस सूत्र के भाष्य में 'न ङि. सम्बुध्योरनुत्तरपदे' इस रूप में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । इसका यह अर्थ है । 'नङि. सम्बुध्यो:' सूत्र से जो न लोप का निषेध होता है वह अनुत्तर पद में ही हो । उत्तर पद परे रहते न हो । सम्बुद्धि विषय में उत्तर पद उपलब्ध नहीं होता है । क्योंकि सम्बुद्धयन्त का उत्तर पद के साथ समास नहीं होता है । यद्यपि भाष्य कार ने 'सम्बुद्धि' विषय में उत्तर पद का उदाहरण 'राजन् वृन्दारक' ऐसा

---

1. अष्टाध्यायी 7/1/96.

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हलन्त पुल्लिंग प्रकरणम्, पृष्ठ 264.

3. अष्टाध्यायी 8/2/8.

तथापि 'सम्बुद्ध्यन्तानामसमासोराजन् वृन्दारक' इत्यादि उत्तरवर्त्ती वाक्यों के द्वारा 'सम्बुद्धि' में उत्तर पद का अभाव भी स्पष्ट रूप से कहा गया है। इसी आशय से दीक्षितजी ने प्रकृत वार्त्तिक से 'सम्बुद्धि' रहित पाठ किया है। यह वाक्य 'नङि. सम्बुद्ध्यो अनुत्तरपदे' इस वार्त्तिक में पठित 'अनुत्तरपदे' चर्मतिल: राजन् वृन्दारक् राजवृन्दारक्, ये सब वार्त्तिक के उदाहरण हैं। प्रथम उदाहरण में प्रत्यय लक्षण के द्वारा 'ङि. परत्व' मानकर 'न ङि. सम्बुध्यौ' इस सूत्र के द्वारा 'न' लोप का प्रतिषेध प्राप्त था। 'अनुत्तरपदे' इस वचन से नहीं हुआ। तदनन्तर 'प्रत्यय लक्षणेन सुबन्त' मानकर 'पदत्वात् न लोप: ' प्रातिपदिकान्तस्य' इस सूत्र से न का लोप होता है। द्वितीय उदाहरण में 'राजन्' और 'वृन्दारक' दोनों 'सम्बुध्यन्तौ' का समास होता है। यहाँ भी प्रत्यय लक्षण से 'राजन्' को 'सम्बुद्धि परत्व' मानकर प्राप्त 'न' लोपे प्रतिषेध' को 'न लोप प्रतिषेध अनुत्तरपदे' इस वचन से नहीं होता है। 'चर्मणि तिल:' इत्यादि प्रयोग में 'ङि.' को तथा 'राजवृन्दारक' इस शब्द में 'सम्बुद्धि' को लुक्' हुआ है। अत: 'न लुमताङ्गस्य'[1] इस सूत्र से प्रत्यय लक्षण के निषेध हो जाने पर 'ङि.' और 'सम्बुद्धि परकत्त्व' न होने से 'न ङि. सम्बुध्यौ' इस निषेध की प्राप्ति नहीं होती है। अत: 'तत्' वारणार्थं' वार्त्तिक में 'अनुत्तरपदे' यह व्यर्थ है। भाष्यकार ने भी कहा है कि 'अनुत्तरपदे' में यह नहीं[2] कहना चाहिए क्योंकि 'ङि. सम्बुद्धि परे न लोप' कहा गया है। 'ङि. सम्बुद्धि' यहाँ नहीं है।

---

1. अष्टाध्यायी 1/1/63.
2. महाभाष्य, 8/2/8.

'न लुमता ' के प्रतिषेध होने से प्रत्यय लक्षण भी नहीं होता है । 'नडि. सम्बुध्यौ' इस सूत्र के विषय में सर्वत्र 'डि. ' का 'लुक्' ही होता है । लोप कहीं नहीं होता है । जैसे चर्मतिल: इत्यादि प्रयोगों में । उसी प्रकार 'रथन्तरे साम्न् परमे व्यूमन' इत्यादि असमास स्थल में भी 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडा यायाजाल:'[1] इसके द्वारा 'लुक्' होता है । अत: प्रत्यय लक्षण के निषेध होने से 'डि परकत्त्व' नहीं मिलता है । अत: 'न डि. सम्बुद्धयौ' से निषेध नहीं हो सकता है किन्तु निषेध इष्ट है । अत: 'डि. ' ग्रहण व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करता है । ऐसे स्थल पर प्रत्यय लक्षण का आश्रयण होता है । 'न लुमताडस्य' का निषेध प्रवृत्त नहीं होता है । ऐसा अर्थ ज्ञापन करने पर जैसे 'परमे व्योमन' इत्यादि प्रयोगों में अनुत्तरपद परे रहते 'डि. परत्व' है । उसी प्रकार 'चर्मतिल:' इत्यादि प्रयोगों में उत्तरपद परे रहते है 'डि. परत्व' है । अत: 'न डि. सम्बुद्धयौ' इस निषेध की प्राप्ति है अतएव उसके परिहार के लिए वार्त्तिक में अनुत्तरपद ग्रहण करना आवश्यक है । भाष्यकार[2] ने 'चर्मतिल:' इत्यादि प्रयोगों के लिए इस वार्त्तिक को माना है । इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुत्तरपद यह अंश फलितार्थ प्रथम मात्र है तथा 'डौ उत्तरपदे' प्रतिषेध आवश्यक है । वस्तुतस्तु भाष्यकार ने उस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है । उनका कथन है कि 'न डि. सम्बुद्धयौ' इस सूत्र से 'डि. परे' रहते निषेध

---

1. अष्टाध्यायी, 7/1/39.
2. महाभाष्य 8/2/8.

का उदाहरण छन्द में ही देखा जाता है 'परमे व्योमन्' इत्यादि वेद में न लुमता-ङ्स्य' इससे प्रतिषेध होने से प्रत्यय लक्षण के अभाव में 'यचि भम्'[1] सूत्र 'भ' संज्ञा के अभाव में भी 'उभय संज्ञान्यपि' इस वार्त्तिक से व्योमन् इत्यादि प्रयोगों में 'भ' संज्ञा होने से ही लोप का अभाव सिद्ध हो जाता है । सूत्र में ङि. ग्रहण व्यर्थ है । ङि. ग्रहण के न रहने पर 'चर्मतिलः' इत्यादि प्रयोगों में निषेध की प्राप्ति ही नहीं है । अतः उसके परिहार के लिए वार्त्तिक की आवश्यकता नही है । इस प्रकार 'ङि. परे रहते प्रतिषेध वारण के लिए अनुन्तर परे' यह कहना व्यर्थ है । 'सम्बुद्धि उत्तरपद परे' रहते भी 'अनुत्तरपदे' इसका कोई उपयोग नहीं है । क्योंकि 'राजन् वृन्दारक' इन दोनों सम्बुद्ध्यान्त' पदों का समास नहीं है । अतः सम्बुद्धि उत्तरपद में नहीं मिल सकेगा । इस प्रकार राजन् वृन्दारक, इस विग्रह में राज् वृन्दारक यही प्रयोग इष्ट है । 'सम्बुद्ध्यन्तों का समास क्यों नहीं होता है । इस पर भाष्यकार कहते हैं कि वाक्य और समास दोनों से म समान अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए । 'राजन् वृन्दारक' इस प्रयोग में वाक्य से जो अर्थ गम्यमान होता है वह समास करने पर गम्यमान नहीं होता है । समास से समुदाय में सम्बोधन द्योतित होता है तथा वाक्य में अवयवों में सम्बोधन द्योतित होता है । इस प्रकार उभय पक्ष में 'अनुत्तरपदे' इसका उपयोग नहीं है । 'ङि. परे' रहते लोप निषेधारम्भ पक्ष में 'ङौ उत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः' यह वार्त्तिक 'चर्मतिलादि' प्रयोगों के लिए रहने पर भी 'सम्बुद्धि' में इसकी आवश्यकता नहीं हुई है ।

---

1. अष्टाध्यायी, 1/4/18.

परौ व्रजे: षश्च पदान्ते[1]

हलन्त शब्दों में अन्वाख्यान करते हुए लघु सिद्धान्त कौमुदीकार वरद-राजाचार्य ने उक्त वार्त्तिक को 'परिव्राट्' प्रयोग के साधनार्थ प्रस्तुत किया है । यह वार्त्तिक उणादिगण पठित है । तथा इसके पूर्व 'क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रज्वां दीर्घो सम्प्रसारण च[2] सूत्र पठित है । अत: 'परौ व्रजे: ष: पदान्ते' वार्त्तिक में उक्त सूत्र से क्विव तथा दीर्घ इन दोनों पदों का अनुवर्त्तन होता है जिससे परि-णामत: वार्त्तिक 'परिपूर्वक व्रज धातु से क्विप् तथा दीर्घ पदान्त में षत्व का विधान करता है जैसे - परिव्राट । इसी बात को तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने परिव्रजे ष: में 'इह पूर्व सव्राद क्विप् दीर्घौ अनुर्वेतत्' शब्दों में स्पष्ट किया है । 'परित्यज्य सर्वं व्रजति इति परिव्राट' । यह विग्रह जनित अर्थ स्पष्ट है ।

समान वाक्ये निघात् युष्मदस्मादेश वक्तव्य:[3]

'समर्थ: पदविधि: '[4] इस सूत्र के तथा 'अनुदात्तं सर्वम् पादादौ'[5] इस सूत्र के भाष्य पर यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । इस वार्त्तिक से समान वाक्य

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हलन्त पुल्लिंग प्रकरणम्, पृष्ठ 286.
2. अष्टाध्यायी, 4/4/18.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हलन्त पुल्लिंग प्रकरणम्.
4. अष्टाध्यायी, 2/1/1.
5. अष्टाध्यायी 8/1/18.

प्रकृत कर 'युष्मदास्मदादेश' को 'निघात' और 'युष्मदस्मादेश' का विधान किया जाता है । 'निमित्त' और के 'एक वाक्यस्थत्व' होने पर 'निघात' और 'युष्मदस्मदादेश' होते हैं यह भाव है । 'अयं दण्डोहरधानेन' इस वाक्य में 'समानवाक्यस्थ' होने से 'हर' की 'तिङङतिङ'[1] इस सूत्र से 'निघात' नहीं होता है यहाँ 'अयं दण्ड:' यह पृथक् वाक्य है । पद से परे विद्यमान 'तिङन्त' को 'निघात' होता है । 'दण्ड:' यह पद है उसके परे 'हर' यह 'तिङन्त' है किन्तु वह पद पूर्व वाक्यस्थ है और वह 'तिङन्त' उत्तर वाक्यस्थ है अत: नमित्त और निमित्त का एक वाक्यस्थत्व नहीं है ।

इसी प्रकार 'ओदन पच तव भविष्यति' इत्यादि स्थल पर 'ते मया कवचनस्य' इस सूत्र से 'तव' को 'ते' आदेश भी नहीं होता है । ये भी आदेश पद के परे विद्यमान 'युष्मदस्मद' को ही होता है । इस वाक्य में 'ओदन पच' यह पृथक् वाक्य है तथा 'तव भविष्यति' यह पृथक् है । यहाँ पर भी निमित्त भूत पद 'पच्' और कार्यों 'युष्मद' शब्द ये दोनों एक वाक्य में नहीं है । 'युष्मदस्मादेश' शब्द से 'युष्मदस्मदा: षष्ठी चतुर्थी द्वितीयास्थयो: वाम् नौ' इस प्रकरण में विधीयमान 'वाम् नौ' आदि आदेश ही लिए जाएँगे । यहाँ 'अयं दण्डो हरनेन' इत्यादि वाक्यों में 'अनेन' इस शब्द से पूर्व वाक्य में 'उपान्त दण्ड' का परामर्श किया जाता है क्योंकि उसी में हरण क्रिया के प्रति 'करणत्व' अवगत है । अत: सामर्थ्य विद्यमान है । इसी प्रकार से 'ओदनं पच तव भविष्यति'

---

1. अष्टाध्यायी 8/1/28.

इत्यादि वाक्य में 'त्वया पक्व: ओदन: तव भविष्यति' इस अर्थ की प्रतीति होती है । अत: यहाँ भी सामर्थ्य है अत: 'सामर्थ्याभावाद्धि' 'समर्थ पद विधि' इस परिभाषा के जागरूक होने से 'निघात' 'युष्मदस्मदादेश' नहीं होंगे । ऐसी शंका नहीं की जा सकती है क्योंकि यहाँ सामर्थ्य विद्यमान है । अत: समर्थ परिभाषा के द्वारा वारण असम्भव होने के कारण इस वार्त्तिक का आरम्भ करना चाहिए यह कैय्यट का मत है । वृत्तिकार के मत में 'इह देव-दत्त माता ते कथयति' 'नद्यास्तिष्ठति कूले शालिनांति ओदनं दास्यामि' इत्यादि प्रयोगों में 'निघात' और युष्मदस्मदादेश की सिद्धि के लिए यह वार्त्तिक पढ़ना चाहिए ।[1] वृत्तिकार का भाव यह है 'इह देवदत्त' इत्यादि वाक्य में 'इह' पद का 'मातृ' पद के साथ अन्वय है 'देवदत्त' के साथ नहीं है। अत: 'इह' 'देवदत्त' इन दोनों पदों में 'असामर्थ्य' होने से 'समर्थ' परिभाषा के अधिकार में 'आमंत्रितस्य च'[2] इस सूत्र से 'निघात' नहीं प्राप्त होता है । इसी प्रकार 'नद्यास्तिष्ठति कूले' इस वाक्य में 'नदी' का 'कूल' के साथ अन्वय है 'क्रिया' के साथ नहीं है । अत: असामर्थ्यात् 'तिङ्ङतिङ'[3] इस सूत्र से 'निघात' नहीं प्राप्त होता है । इसी प्रकार 'शालिना ते' इस वाक्य में भी

---

1. आमन्त्रितां तं तिङन्ते युष्मदस्मदादेशाश्च यस्मात्पराणि न तेषां सामर्थ्यमिति तदाश्रयनिघात युष्मदस्मदादेशा न स्यु: 'समर्थ पदविधि:' इति वचनात् ।

– काशिका 8/1/1.

2. अष्टाध्यायी, 6/1/198. 3. वही 8/1/28.

इन दोनों पदों का परस्पर सामर्थ्य न रहने से 'युष्मदस्मदादेश' की प्राप्ति नहीं है । ये सभी पद विधियाँ 'पदस्य' इस सूत्र के अधिकार में हैं । ये सब 'सामर्थ्याभाव' में भी 'समान वाक्य' में होने के कारण सिद्ध हो जाए इसके लिए वार्त्तिक का आरम्भ करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि इस वार्त्तिक के 'बल' से 'सामर्थ्य' के अभाव में भी 'समान वाक्य' में ये विधियाँ हो जाएं तथा 'सामर्थ्य' होने पर भी 'असमान वाक्य में न हो । यह सब न्यास और पद-मंजरी में स्पष्ट है । नागेश का कहना है कि 'समर्थ परिभाषा एकार्थी भाव रूप' सामर्थ्य मात्र को विषय कर प्रवृत्त होती है । अतः 'प्रकृत स्थल' पर समर्थ परिभाषा का विषय ही नहीं है । अतः इस परिभाषा से 'निघातादि' के वारण की सम्भावना नहीं है । वस्तुतः पद संज्ञा प्रयोजक 'प्रत्ययोत्पत्ति' के प्रयोजक संज्ञीय 'उद्देश्यतावच्छेद' का 'वाच्छिन्नत्वरूप' सम्पादक 'विधित्व' के 'निघात' विधि में तथा 'वाम् नौ' विधि में अभाव है । अतः ऐसे विषय में 'तादृश परिष्कृत पदविधित्व' न रहने से समर्थ-परिभाषा के प्राप्ति का अवसर नहीं है । यह वार्त्तिक भी वाचनिक है क्योंकि उपर्युक्त प्रयोगों में प्रकारान्तर से 'निघातादि' का वारण सम्भव नहीं है । यहाँ 'वाक्यत्व' किस प्रकार का है यह आगे [एकतिङ् वाक्यम्] इस वार्त्तिक के व्याख्यान के अवसर पर कहा जाएगा ।

एते वान्नावादय आदेश अनन्वादेशे वक्तव्या:[1]

'स पूर्वया: प्रथमाया विभाषा:'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'युष्मदस्मुदोरन्यतरस्यामन्वादेशे' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। इस वार्त्तिक का दो व्याख्यान भाष्यकार में किया है। प्रथम व्याख्यान के अनुसार यह वार्त्तिक 'अपूर्वाया: प्रथमाया: विभाषा:' इस सूत्र का ही शेष है। इस सूत्र से विहित विभाषा' पद से ही वार्त्तिक के विषय का निर्धारण सिद्ध हो जाता है। 'अपूर्वा प्रथमा' के परे 'षष्ठयादि' विभक्ति से विशिष्ट 'युष्मदस्मद' के स्थान पर 'वान्नौ' इत्यादि आदेश होते हैं और वे 'अनन्वादेश' में विकल्प से होते हैं। जैसे - 'ग्रामे कम्बलस्तेस्वम्'ग्रामे कम्बलस्तव स्वम्'। इस प्रकार 'अन्वादेश' में'सपूर्वा प्रथमा' से विकल्प से नहीं होता है। नित्य ही होता है। जैसे - 'अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्' इन्हीं प्रयोगों को भाष्यकार ने 'अनन्वादेश' और 'अन्वादेश' में उदाहरण रूप में उपन्यस्त किया है। 'सपूर्वा: प्रथमाया: विभाषा:' इस सूत्र के विषय में इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति नहीं है। अत: वहाँ पर 'अन्वादेश' अथवा 'अनन्वादेश' में नित्य ही 'युष्मदस्मद' आदेश होगा। जैसे - 'कम्बलस्ते स्वम् इति'। इसके बाद 'अपर आह' इस उक्ति के अनन्तर सभी 'वान्नौ' आदेश अनन्वादेश' में विकल्प से होते हैं। यह व्याख्यानांतर भाष्यकार[3] ने उपन्यस्त किया है। इस व्याख्या के अनुसार 'सपूर्वा: प्रथमाया:

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हलन्त पुल्लिंग प्रकरणम्, पृष्ठ 302.
2. अष्टाध्यायी, 8/1/26.
3. महाभाष्य, 8/1/26.

विभाषा: ' इस सूत्र के अविषय में भी 'वाम् नौ' इत्यादि आदेश 'अनन्वादेश' में विकल्प से होते हैं । व्याख्यान वाक्य मे 'सर्वे एव' इसका अर्थ उक्त सूत्र के विषयभूत तथा अविषयभूत सभी 'वान्नौ' इत्यादि आदेश लिए जाते हैं । इस प्रकार यह वार्त्तिक 'सपूर्वा प्रथमाया: ' इस सूत्र का शेष नहीं है । न तो इस सूत्र से विहित 'विभाषा' के विषय निर्धारण के लिए ही है । अपितु स्वतंत्र रूप से 'अनन्वादेश' में विकल्प से विधायक है । अत: 'सपूर्वाया: प्रथमाया: ' इसके अभाव में भी 'अनन्वादेश' में 'युष्मदस्मदं' आदेश विकल्प से होते हैं । जैसे - कम्बलस्ते स्वम् , कम्बलस्तौ स्वम् इत्यादि । इस पक्ष में 'सपूर्वाया: ' यह सूत्र 'अन्वादेश' में भी विकल्प विधान के लिए है जैसे - 'अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम् प्रथमाया: अनन्वादेश' और 'अन्वादेश' दोनों स्थलों पर विकल्प से प्रवृत्त होता है । अन्यत्र 'अनन्वादेश' में ही विकल्प से होता है तथा 'अन्वादेश' में नित्य ही आदेश होते हैं । यही सूत्र और वार्त्तिक का निष्कर्ष है ।

शंका होती है कि आद्य व्याख्या के अनुसार सपूर्वा प्रथमा के विषय में भी अन्वादेश में नित्य ही आदेश प्राप्त होते हैं । जैसे - 'अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्' । द्वितीय व्याख्या के अनुसार 'सपूर्वाया: ' इस सूत्र से विकल्प से आदेश प्राप्त होते हैं । ऐसी स्थिति में इन प्रयोगों का साधुत्त्व कैसे होगा । एक ही प्रयोग में व्याख्यान भेद से साधुत्व एवं असाधुत्व अन्याय है । इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि उत्तर व्याख्यान के द्वारा पूर्व व्याख्यान का बाध हो जाता है । अत: अबाधित उत्तर व्याख्यान के अनुसार साधुत्व की

व्यवस्था करनी चाहिए । उत्तर व्याख्यान के अनुसार 'अन्वादेश' में भी 'सपूर्वायाः' इस सूत्र से विकल्प से आदेश होता है क्योंकि इस सूत्र में वार्त्तिक द्वारा संकोच नहीं किया जाता है । इस प्रकार 'अन्वादेश' में 'अथो ग्रामे कम्बलस्तौ स्वम्', 'अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्' ये दोनों प्रयोग साधु है । यह प्रदीप और उद्योत में स्पष्ट है । 'अन्वादेश' अनुकथन को कहते हैं जैसा कि न्यासकार ने कहा है । 'आदेश' कथन को कहते हैं तथा 'अन्वादेश' अनुकथन को कहते हैं । दीक्षितजी ने इसी अर्थ को विशद किया है । उनका कथन है कि किसी कार्य को करने के लिए 'उपान्त' को कार्यान्तर विधान के लिए पुनः उपादान करना 'अन्वादेश' कहलाता है । जैसे - 'इसने व्याकरण पढ़ लिया है' इसको साहित्य पढ़ाइये' इत्यादि । यह वार्त्तिक भाष्यरीति से वाचनिक है । न्यासकार ने इसे व्याख्यान सिद्ध कहा है । उनके अनुसार सूत्रस्थ विभाषा ग्रहण सिंहावलोकन न्याय से षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीयान्त, युष्मदस्मद्' को 'वान्नौ आदेश के साथ सम्बन्धित होकर व्यवस्थित विकल्प का विधान करता है । इससे 'अनन्वादेश' में विकल्प से तथा 'अन्वादेश' में नित्य आदेश होता है ।

अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः[1]

यह अर्थ काशिका में वाचनिक रूप से कहा गया है । 'उशनसः सम्बुद्धौ अपि पक्षे अनङ् इष्यते हे उशनन्' 'न ङि सम्बुद्ध्योः' इति न लोप का प्रतिषेध

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हलन्तपुल्लिंग प्रकरणम्, पृष्ठ 327.

एक पक्ष में इष्ट है । इस अर्थ को प्रामाणिक करने के लिए काशिकाकार ने इस श्लोक वार्त्तिक को उपन्यस्त किया है ।

सम्बोधने तु शनसस्त्रि रूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ।

माध्यन्दि निर्वष्टिगुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्र पदां वरिष्ठा: ॥

आचार्य माधव ने भी इस श्लोक वार्त्तिक के अंश 'सम्बोधने तु शन-सस्त्रि रूपं' इत्यादि का उदाहरण दिया है । 'वष्टि' यह रूप 'वश् कान्तौ' धातु से बना है । उक्त श्लोक वार्त्तिक के अनुसार ही मनोरमा में भी एत च वार्त्तिकं' इस शब्द से उल्लेख किया गया है । हरदत्त की यह व्याख्या कि 'अनङ् सौ'[1] इस सूत्र में 'सौ ङा' ऐसा न कह करके 'अनङ्' विधान कहीं-कहीं 'अनङ्' श्रवण के लिए है । इससे उशनस् शब्द की 'सम्बुद्धि' में 'हे' एक पक्ष में 'अनङ्' सिद्ध हो जाता है । इस हरदत्त की उक्ति का मनोरमाकार ने 'अनङ् सौ' इस सूत्र के व्याख्यान में दूषित कर दिया है । इस प्रकार दीक्षित के मत से यह वार्त्तिक वाचनिक है । जिसे लघु सिद्धान्त कौमुदीकार ने भी यथावत् स्वीकार किया है । इस वार्त्तिक का अर्थ है कि 'उशनस्' शब्द को 'सम्बुद्धि परे' रहते विकल्प से 'अनङ् ' होता है तथा 'न लोप' भी विकल्प से होता है । 'ऋदुशनस् पुरुदंसो अनेह सां च' इस सूत्र से 'सम्बुद्धि' परे रहते 'अनङ् ' की प्राप्ति नहीं होती । अत: 'अनङ्' का विकल्प से विधान वार्त्तिक के द्वारा किया जाता है । इसी प्रकार 'न ङि सम्बुद्ध्यौ' इस सूत्र से प्रतिषेध होने से 'न लोप'

---

1. अष्टाध्यायी 7/1/93.

नहीं हो पाता है । उसका विकल्प से विधान किया जाता है । इस प्रकार 'अनङ.' और 'न लोप' दोनों विषय में यह वार्त्तिक 'अप्राप्त विभाषा' है' । 'अनङ.' होने पर न लोप पक्ष में हे उशनस् यह अदन्त रूप होता है । 'न लोपा-भाव पक्ष में 'हे उशनन्' यह नकारान्त रूप होता है । अनङ. के अभाव पक्ष में 'हे उशनस्' यह सकारान्त रूप होता है । सकार के 'रुत्व' और विसर्ग होने पर 'हे उशन:' यह प्ररिनिष्ठित रूप होता है । इसी तथ्य को उक्त श्लोक वार्तिक में कहा गया है । भाष्य में यह वार्त्तिक कहीं नहीं पढ़ा गया है । इसीलिए कुछ इसको अप्रमाणिक कहते हैं । नागेश ने भी भाष्य में[1] अनुक्त होने के कारण इस वार्त्तिक को प्रामाणिक नहीं माना है ।

अन्वादेशे[2] नपुंसके एनदवक्तव्य:

'द्वितीया टौ: स्वेन:'[3] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । वहाँ 'एनदिति नपुंसकैक वचने' इस रूप से वार्त्तिक पढ़ा गया है । नपुंसक लिंग में 'अन्वादेश' के विषय में 'इदं' और 'एतद्' के स्थान में एकवचन परे 'एनद्' आदेश कहना चाहिए । यह वार्त्तिक का अर्थ है । उक्त सूत्र में

---

1. अष्टाध्यायी, 7/2/107.

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हलन्त नपुंसकलिंग प्रकरणम्, पृष्ठ 346.

3. अष्टाध्यायी, 2/4/34.

'इदमो न्वादेशे शनुदात्तस्तृतीयादौ'[1] इत्यादि सूत्र से अन्वादेश की अनुवृत्ति आती है । 'द्वितीया' इत्यादि सूत्र और यह वार्त्तिक यह दोनों अन्वादेश में ही प्रवृत्त होते हैं । इसका उदाहरण है - 'कुण्डमानय एनत् प्रक्षालय' । यहाँ पर उक्त वार्त्तिक के न रहने से 'द्वितीया' इत्यादि सूत्र से 'एन्' आदेश ही होता है 'एनत्' नहीं हो पाता । अत: वार्त्तिक का आरम्भ करना आवश्यक है । यहाँ पर 'स्वमोर्नपुंसकात्' इस सूत्र से द्वितीया विभक्ति के 'लुक्' हो जाने पर भी प्रत्यय लक्षण द्वारा 'एनत्' आदेश होता है । 'न लुमताङ्गस्य' यह निषेध अंग कार्य में ही होता है । 'एनत्' आदेश अंगाधिकार से बहिर्भूत है । अथवा 'एनद्' अ आदेश के विधान सामर्थ्यात् 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है । यह 'एनद्' आदेश द्वितीया के एकवचन अंग विभक्ति परे रहते ही होता है । यद्यपि वार्त्तिक में सामान्येन एकवचन का ग्रहण किया गया है तथापि तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'एनत्' आदेश का कोई फल नहीं है । 'एनद्' आदेश होने पर भी 'त्यदादीनाम:' इस सूत्र से 'अन्त्य तकार' को 'अकार' हो जाने से 'एनत्' ऐसा श्रवण नहीं हो पाएगा अपितु 'एन' का ही श्रवण हो पाएगा । ऐसी स्थिति में सूत्र के द्वारा ही 'एनदादेश' करने से ही कार्य सिद्ध हो जाएगा ।

कौमुदीकार के मतानुसार 'द्वितीया: टौ: स्वेन:' इस सूत्र में ही 'एन्' के स्थान पर 'एनत्' कहना चाहिए । सर्वत्र 'एनत्' ही आदेश करना चाहिए । उस 'एनत्' आदेश को नपुंसक द्वितीया के एकवचन के अतिरिक्त द्वितीयादि में

---

1. अष्टाध्यायी 2/4/32.

'त्यदादीनामः' इस सूत्र से 'अत्व' करने पर 'एनम्', एनौ, एनान्', 'एनेन, एनयोः' इत्यादि इष्ट रूप होता है। 'येन न प्राप्ति' इस न्याय 'त्यदादि-नामः' इसका यह सूत्र अपवाद हो जाएगा। अतः 'एनत्' आदेश प्रवृत्ति के अनन्तर 'त्यदाद्यत्व' नहीं हो सकेगा। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'द्वितीया टौस' इत्यादि सूत्र में विषय सप्तमी मान लेने से उक्त दोष निरस्त हो जाता है। विषय सप्तमी पक्ष में द्वितीयादि के उत्पत्ति के पूर्व आदेश प्रवृत्त हो जाता है। उस समय 'त्यदादीनामः' की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार यह सूत्र 'त्यदाद्यत्व' का अपवाद नहीं है। सर्वत्र 'एनत्' आदेश के विधान करने पर यह शंका होती है कि नपुंसक द्वितीया के एकवचन से अतिरिक्त स्थल पर उसके चरितार्थ हो जाने से नपुंसक द्वितीया के एकवचन में 'एनत्' आदेश विधान सामर्थ्यात् 'न लुमताङस्य' इस सूत्र के प्रत्यय लक्षण के प्रतिषेध हो जाने से 'एनत्' आदेश प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि 'एनत्' आदेश के अन्यत्र चरि-तार्थ हो जाने से नपुंसक द्वितीया के एकवचन के विधान सामर्थ्यात् 'न लुमताङस्य' इस निषेध को रोका नहीं जा सकता है।

उपर्युक्त शंका का समाधान 'एनत्' में 'तकारोच्चारण सामर्थ्यात्' हो जाता है। वह 'तकारोच्चारण नपुंसक द्वितीया के एकवचन में ही सार्थक होता है। क्योंकि वहाँ विभक्ति का 'लुक्' हो जाने से 'त्यदादिनामः' की प्राप्ति न हो पाती। वहाँ भी प्रत्यय लक्षण के निषेध हो जाने से 'एनत्' आदेश की यदि प्रवृत्ति नहीं होगी तो 'तकारोच्चारण' ही व्यर्थ हो जाएगा। इस प्रकार

सूत्र में ही 'एनत्' आदेश का विधान करना चाहिए । इस पक्ष में लाघव है किन्तु 'एनत्' यह 'तकारान्त' रूप नपुंसक द्वितीया के एकवचन में ही सुनाई देता है । अन्यत्र 'अकारान्त' और 'तान्त' में कोई विशेषता नहीं है । इस अभिप्राय से वार्त्तिक में नपुंसक द्वितीया के एकवचन का ग्रहण किया गया है । यह सब भाष्य में स्पष्ट है । वहाँ कहा गया है कि 'यदि एनत्'[1] यह आदेश होगा तो 'एनादेश' नहीं कहना चाहिए क्योंकि नपुंसक द्वितीया के एकवचन से अतिरिक्त स्थल में 'त्यदादिनाम: ' से 'अकार' कर देने से सिद्धि हो जाएगी । यह शंका होती है कि सभी जगह 'एनत्' आदेश विधान करने पर 'एतच्छितक' इस समस्त प्रयोग में प्रत्यय लक्षण से अन्तरवर्तिनी विभक्ति मानकर 'एनत्' आदेश हो जाएगा । 'एनच्छितक' यह अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा । 'न लुमताऽस्य' यह निषेध यहाँ नहीं लग पाएगा । 'एनत्' आदेश विधान सामर्थ्यात्' उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी । इस शंका के समाधान में यह कहना चाहिए कि कि यह 'एनत्' आदेश एक पद को आश्रय मानने वाले अन्तरंग 'स्वमोर्लुकि' इस शास्त्र के विषय में चरितार्थ हो जाता है । तब पदद्वय की अपेक्षा से प्रवृत्त 'बहिरंग शास्त्र' सामासिक लुक्' के विषय 'एनत्' आदेश की प्रवृत्ति नहीं होगी । अत: 'एतच्छितक्' यहाँ अनिष्ट प्रयोग नहीं होगा । यह मनोरमा में स्पष्ट है । इसी अभिप्राय से सिद्धान्त कौमुदी एवम् लघु सिद्धान्त कौमुदी में उल्लिखित सूत्र में एकवचन को हटाकर 'अन्वादेशे नपुंसके एनत् वक्तव्यम्' ऐसा पाठ किया गया है । वस्तुत: इनके मत

---

1. महाभाष्य 2/4/34.

से 'नपुंसके' यह भी नहीं कहना चाहिए । हरदत्त ने भी दीक्षित के समान ही 'एनत्' आदेश का समर्थन किया है । 'एनमृश्रित:' इस विग्रह में 'द्वितीयाश्रितातीत-पतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नै:'[1] इस सूत्र से समास करने पर 'अन्तरङ्गानपि विधान 'बहिरङ्गो लुक् बाधते' इस परिभाषा से अन्तरंग भी 'एनत्' आदेश को बाधकर 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो:' इस सामासिक 'लुक्' के विषय में 'न एनादेश न एनदा-देश' होगा किन्तु 'एतच्छ्रित:' यही साधु रूप होगा । अत: यहाँ पर भी दोनों में फलभेद नहीं है । यह सब बातें पदमञ्जरी[2] में स्पष्ट है । इससे यह सिद्ध होता है कि 'एतच्छ्रित:' यहाँ पर 'लुक्' होने के अनन्तर प्रत्यय लक्षण मानकर 'एनत्' आदेश नहीं होता है क्योंकि 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्र से प्रत्यय लक्षण का प्रतिषेध हो जाता है । यह दीक्षित जी का मार्ग हरदत्त जी को भी अभीष्ट है । कैय्यट का कहना है कि यदि 'एनद्' किया जाता है तो एनादेश नहीं कहना चाहिए' इत्यादि भाष्य के अनुसार 'एनदादेश' को सर्वत्र 'अभ्युपगम' करना चाहिए । सर्वत्र 'एनदादेश' होने पर 'एनच्छ्रितक: प्राप्नोति' इस भाष्योक्त आशंका को 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' इस भाष्य की उक्ति से ही समाहित कर देना चाहिए । कैय्यट ने इस भाष्य का इस प्रकार से व्याख्यान किया है कि यदि

---

1. अष्टाध्यायी, 2/1/24.

2. इहत्वेनं श्रित इति द्वितीया समासे यद्यत्येनादेशो थाप्येनादेश:, उभाभ्यमपि न भाव्यम् । कथम् ? अन्तरङ्गानपिविधीनवहिरङ्गोलुगवाधते' तस्मादेत-च्छ्रित इति भवति । पदमञ्जरी, 2/4/34.

सर्वत्र 'एनदादेश' किया जाएगा तो 'एतच्छ्रितक: ' इस समास में 'एनदादेश' होने पर 'तकार' श्रवण की प्रसक्ति होगी । 'त्यदादिनाम: ' से यहाँ 'अकार' नहीं हो सकता है । सामासिक 'लुक्' से विभक्ति के लुप्त हो जाने पर 'अत्व' की प्राप्ति नहीं है । प्रत्यय लक्षण को भी प्रसक्ति नहीं हो सकती है । 'न लुमता ङस्य' इस सूत्र से निषेध हो जाता है । इस शंका का भाष्योक्त समाधान 'यथ लक्षणमप्रयुक्ते' इस भाष्य के व्याख्यान में कैयट कहते हैं कि जो प्रामाणिक प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है उसका लक्षण के अनुसार ही संस्कार करना चाहिए । यदि लक्षण प्राप्त होता है तो लगाना चाहिए । यदि नहीं लगता हो तो नहीं लगाना चाहिए । उस प्रयोग के अनुरोध से लक्षण में 'अव्याप्ति अतिव्याप्तिदोष की उद्भावना नहीं करनी चाहिए । प्रकृत में 'नलुमताङस्य' इस सूत्र से 'ङ. ाि कारीय' कार्य के कर्त्तव्य में ही 'प्रत्यय लक्षण' का प्रतिषेध होता है । यह पक्ष 'आश्रित' जब किया जाता है तब 'एनदादेश' अधिकार से 'बहिर्भूत' है अत: उस कर्त्तव्य में 'प्रत्यय लक्षण' का प्रतिषेध नहीं हो पाएगा । 'एनच्छ्रित: ' में 'एनद आदेश होगा ही । यदि 'न लुमताङस्य' इस सूत्र का 'लुंमत' शब्द 'लुप्त' प्रत्य परे रहते जो अंग उसके कार्य कर्त्तव्य में 'प्रत्यय-लक्षण' का प्रतिषेध होता है वह कार्य 'आङ्. ' को 'अनाङ्. ' इस पक्ष का आश्रय करते हैं तब तो 'एनदादेश' के 'अगाधिकारीय' न होने पर भी 'अंगोद्देश्यक' होने से 'प्रत्ययलक्षण' का प्रतिषेध हो जाता है तब 'एनदादेश' नहीं होना चाहिए । इस प्रकार अप्रयुक्त 'एनच्छि तक्' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से अतिव्याप्ति आदि दोषों का उद्भाव कर 'सार्वत्रिक एनदादेश' विधान के प्रति आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है । इस प्रकार उ

भाष्य कैय्यट, हरदत्त, दीक्षित के रीति का पोषक ही है । नागेश का कहना है कि यदि 'एनत्क्रियते' इत्यादि भाष्य पूर्वपक्षी की उक्ति है । इस भाष्य का आशय यह है कि सब जगह 'एनदादेश' करने पर 'एनम्', एनौ, एनान्' इत्यादि प्रयोगों में 'त्यदादिनाम:' के द्वारा 'अत्व' नहीं हो सकता है क्योंकि 'एनदादेश' 'त्यदादिनाम:' का अपवाद है । 'द्वितीयातौस' इत्यादि सूत्र में विषय सप्तमी मानकर अपवाद का परिहार करना युक्त नहीं है क्योंकि विषय सप्तमी मानने में कोई प्रमाण नहीं है । अत: 'एनम्' एनौ' इत्यादि की सिद्धि के लिए 'एनादेश' का विधान आवश्यक है । 'एनदादेश' का विधान 'नपुंसक द्वितीया' के एकवचन में ही होना चाहिए । यदि 'एनत् क्रियते' इत्यादि भाष्य पूर्वपक्षीय की उक्ति है । इस प्रकार जिस मत को दीक्षित जी ने मनोरमा में पूर्वपक्षरूप से उपन्यस्त किया है उसी को श्री नागेश ने सिद्धान्त सम्मत माना है । यह वार्त्तिक भी वाचनिक है ।

सम्बुद्धौ नपुंसकानां न लोपो वा वाच्य:[1]

'नङि सम्बुद्धयौ:'[2] इस सूत्र के भाष्य पर 'वा नपुंसकानां' यह वार्तिक पढ़ा गया है । नपुंसक के न का लोप विकल्प से होता है । यह वार्त्तिक का अर्थ है । यद्यपि 'वा नपुंसकानां' इतना ही वार्त्तिक का रूप भाष्य में देखा

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, हल्सन्धिप्रकरणम्, पृष्ठ 347.

2. अष्टाध्यायी, 8/2/8.

जाता है । उसमें सम्बुद्धौ नहीं पढ़ा गया है । अत: 'नङि. समुबद्धौ' सूत्र इस वार्त्तिक का पाठ होने के कारण 'ङि.' और सम्बुद्धि उभय विषयक इसे होना चाहिए तथापि उक्त सूत्र में 'ङि.' ग्रहण के प्रत्याख्यान कर देने से सम्बुद्धि मात्र विषयता वार्त्तिक को निर्धारित होती है । अतएव 'सम्बुद्धौ नपुंसकानां' इत्यादि रूप से सिद्धान्त कौमुदी में पढ़ा गया है । इसका उदाहरण है - हे चर्म हे चर्मन् है । 'न लुमताङ्गस्य' इस निषेध के अनित्य होने से अप्रवृत्ति होती है । अत: प्रत्यय लक्षण से सम्बुद्धि परत्व मानकर 'न ङि. सम्बुद्धौ' इस सूत्र से 'न' लोप का निषेध प्राप्त होता है । इसके विकल्प के लिए यह वार्त्तिक आवश्यक है । 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्र के प्रवृत्ति पक्ष में भी 'प्रत्यय लक्षण' के अभाव होने से 'सम्बुद्धि परत्व' न होने पर 'न ङि. सम्बुद्धौ' इस निषेध की प्राप्ति नहीं होती है । तब 'न लोप: प्रातिपदिकान्तस्य' इस सूत्र से नित्य ही न लोप प्राप्त होता है । उसके विकल्प के लिए यह वार्त्तिक आवश्यक है यह उद्योत[1] में स्पष्ट है । 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्र के दोनों पक्षों में यह वार्त्तिक करना चाहिए अन्यथा 'प्रत्यय लक्षण' निषेध पक्ष में नित्य ही न लोप प्राप्त होगा और 'प्रत्यय लक्षण' पक्ष में नित्य ही न लोपाभाव प्राप्त होगा किन्तु दोनों प्रयोगों हे चर्म, हे चर्मन् इष्ट है । इसलिए भाष्यकार ने कहा है 'वा नपुंसकानां' इस वार्त्तिक को पढ़ना चाहिए ।

---

1. प्रत्यय लक्षणे सति नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं प्रत्यय लक्षण प्रतिषेधे त्व-प्राप्ते प्रतिषेध वचनम् । - उद्योत 8/2/8.

2. महाभाष्य, 8/2/8.

चतुर्थ प्रकरणम्

तिङन्त प्रकरणम्

दुर: षत्वणत्वयोरूप सर्गत्व प्रतिषेधो वक्तव्य:[1]

'गतिश्च'[2] सूत्र के भाष्य में 'सुसुरो: प्रतिषेध: नुम्विधि तत्त्वषत्वणत्वेषु' यह वार्त्तिक है । यहाँ पर 'सु' एवं 'नुम्विधि' और 'तत्त्व' प्रत्याख्यान होने से 'दुरषत्वणत्व' शेष बचता है अत: श्री वरदराज जी ने उतना ही उल्लेख किया है जिससे दु:स्थिति में उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनय-सेधसि च स जस्व जाम्'[3] से 'षत्व' नहीं होता । वार्त्तिक 'रुत्व' विशिष्ट 'दुस' शब्द का भी अनुकरण होने से सकारान्त 'दुस्' मान कर 'षत्व' नहीं होगा । इसी प्रकार 'दुर्नय' आदि में भी 'उपसर्गादसमासे पिणोपदेशस्य'[4] से 'णत्त्व' नहीं होगा ।

अन्त शब्दस्या ङ. किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्[5]

'अन्तरपरिग्रहे'[6] सूत्र भाष्य में 'अन्त: शब्दस्याङ. किविधिसमासत्वेषूप-संख्यानम्' वार्त्तिक अंकित है। 'आङ्.' कि आदि विधियों में 'अन्त' शब्द

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, भ्वादि प्रकरण, पृष्ठ 400.
2. अष्टाध्यायी, 1/4/59.
3. वही, 8/3/65.
4. वही, 8/4/14.
5. लघु सिद्धान्त कौमुदी, भ्वादि प्रकरण, पृष्ठ 400.
6. अष्टाध्यायी, 1/4/65.

'गति' एवं 'उपसर्ग संज्ञाएँ होती हैं जिनमें 'आङ्' की 'णत्व' इनमें 'उपसर्गत्व' अपेक्षित है । क्योंकि 'आतश्चोपसर्गे',[1] 'उपसर्गादिसमासे' आदि सूत्र से उनका विधान है । इसलिए अन्तर्धा, अन्तर्धी 'अन्तर्णयति' में 'आङ्' आदि होते हैं । समास तो सगतिक है । 'कुगतिप्रादय:'[2] से विहित होने से यथा 'अन्तर्हत्य' ये 'उपसर्ग' संज्ञाविषयक ही विधि है । सूत्र से ही गति संज्ञा सिद्ध होने से गति के सन्दर्भ में उक्त सूत्र अनुवाद मात्र है ।[3] यहाँ जितने अंश में इस वार्तिक की अपूर्वता है उतना ही लघु सिद्धान्त कौमुदी में पढ़ा गया है ।

सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्य:[4]

'स्वरितोवाडनुदात्तेपदादौ'[5] सूत्र के भाष्य में 'सिज्लोपएकादेशे' इस वार्त्तिक का उल्लेख भाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने किया है । एकादेश कर्त्तव्य हो तो 'सिज्लोप' सिद्ध होता है, यह वार्त्तिक कार्थ है । इससे 'अलावीत्' इत्यादि 'इट ईटि' से 'सुलोप' होने पर 'सवर्णदीर्घ' सिद्ध होता है अन्यथा 'इट ईटि' सूत्र के त्रिपादी के होने के कारण 'एकादेश के प्रति असिद्ध होने से 'सवर्णदीर्घ' न होता ।

---

1. अष्टाध्यायी 3/3/106.
2. वही, 2/2/18.
3. महाभाष्य प्रदीप टीका, पृष्ठ
4. लघु सिद्धान्त कौमुदी, भ्वादि प्रकरणम्, पृष्ठ 421.
5. अष्टाध्यायी 1/3/37.

कास्यनेकाच आम् वक्तव्य:[1]

इस वार्त्तिक को भाष्यकार पतञ्जलि ने 'कासप्रत्ययादाममन्त्रे लिटि'[2] पाणिनि सूत्र से वचन रूप से पढ़ा है जिसका प्रकार निम्नरीति से है। सर्वप्रथम भाष्यकार ने 'चकासां चकार' प्रयोग की सिद्धि के लिये सूत्र घटक 'कास' इस पद के स्थान पर 'चकास' पद के पाठ की आशंका की, परन्तु, 'कासा चक्रे, के सिद्धि के लिए 'कास' इस आनुपूर्वी का पाठ भी अनिवार्य रूप से स्वीकार किया।

पुन: भाष्यकार ने 'यथान्यासमेवास्तु' यह कहकर 'चकासांचकार प्रयोग की असिद्धि को तादवस्थ्य' रूप से प्रतिपादित किया - यदि - 'चकास्' 'घटक' 'कास' से कार्य की निष्पत्ति मानी जाय, तो नहीं 'कास' पद आनुपूर्व्यवच्छिन्न विषयता प्रयोजक है। अत: 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'[3] परिभाषा की प्रवृत्ति होने से स्वार्थ विशिष्ट 'कास्' शब्द ही उद्देश्य कोटि में उपादेय होगा, अत: 'कास' इस स्वतन्त्र शब्द से 'चकास' घटक कास का ग्रहण नहीं होगा। अत: 'चकासांचकार' 'चुलुम्पाचकार', 'दरिद्रांचकार' इत्यादि अनेक प्रयोग के सिद्धि के लिये भाष्यकार ने गले पतित इस वार्त्तिक को वचन रूप से पढ़ा है। 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्य:' इति। इसी भाष्यमत में ही कैय्यट तथा नागेश ने प्रदीप और उद्योत के माध्यम से अपने मत को समाहित किया है और अन्य टीकाकार भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, भ्वादि प्रकरणम्, पृष्ठ 437.
2. अष्टाध्यायी, 3/1/35.
3. परिभाषेन्दुशे0 14, प्रथम तन्त्र.

कमेश्चेश्चङ. वाच्य:[1]

'णिश्रिद्रुस्रुभ्य: कर्तरि चङ्'[2] सूत्र-भाष्य में 'णिश्रिद्रु:स्रुकमेरुपसंख्यानम्' इस वार्त्तिक का उल्लेख मिलता है अर्थात् उक्त सूत्र में 'कम्' धातु को भी ग्रहण करना चाहिए । 'अयादय आर्धधातुके वा' से अयादय 'आर्धधातुके वा'[3] से विकल्प से 'णिङ्' विहित होने के कारण 'णिङ' भावपक्ष में 'च्लि' को 'सिच' प्राप्त होने पर 'चङ्' विधान के लिए यह वार्त्तिक है । 'णिङ्' पक्ष में तो 'ण्यन्तत्वात्' उक्त सूत्र से ही 'चङ्' सूत्र सिद्ध है । इस प्रकार 'णिङ् भाव पक्ष में 'अचकमत' और 'णिङ्' पक्ष में 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे'[4] सूत्र से 'सन्वद्भाव' से अभ्यास को 'ई' और दीर्घ होने से 'अचीकमत' रूप सिद्ध होते हैं ।

उर्णोतेराम्नेतिवाच्यम्[5]

'इजादेश्चगुरुमतो नृच्छ:'[6] इस सूत्र के भाष्य में 'उर्णोतेराम्नेतिवाच्यम्' इस वार्त्तिक का पाठ है । 'उर्णु' धातु से 'कास्यनेकाच्' वार्त्तिक से अथवा 'इजादेश्चगुरुमतो नृच्छ:' सूत्र से प्राप्त 'आम्' इस वार्त्तिक से निषिद्ध होता है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, भ्वादि प्रकरणम्, पृष्ठ 491.
2. अष्टाध्यायी 3/1/48.
3. वही, 3/1/31.
4. वही, 7/4/93.
5. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अदादि प्रकरणम्, पृष्ठ 552.
6. अष्टाध्यायी, 3/1/36.

होनी यही अर्थ है । यथा -रुधिर, भिदिर, इसीलिए 'अस्थात्' इत्यादियों 'इरतो वा' सूत्र 'च्लिओड.' सिद्ध होता है ।

यह वार्तिक 'इकाररेफयो: नैके' इस प्रकार से भाष्य में प्रत्याख्यात है क्योंकि 'रुचिर' इत्यादि में 'इकार रेफ' की अलग-अलग ही 'इत्संज्ञा' है न तो 'इर्' इस समुदाय की 'इरतो वा' में 'इश्च' रश्च इरौ तौ इतौ यस्येति समास है । यदि कहा जाय कि 'इकार' अलग से 'इत् संज्ञा करने से 'रुधादि में 'इदित्वान्नुम्' होने लगेगा, तब भी नहीं कह सकते क्योंकि 'इदितोनुम्'धात में 'इच्चासौ' 'इत् इदित्' यह कर्मधारय समास स्वीकार करने पर दोष नहीं है 'इदित्' यह 'धातो:' इसका विशेषण है । विशेषण के साथ तदन्त विधि करने पर 'इत्संज्ञकेदन्त' धातु से यह अर्थ लाभ है । इस प्रकार 'अन्तेदित' से ही 'नुम्' होगा न कि मध्येरित इसलिए 'रुधिर' आदि में 'अन्त इदित्' न होने के कारण दोष नहीं है अथवा 'गो: पदान्ते'[2] इस सूत्र से 'इदितोनुम् धातो:' में 'अन्ते' इसकी अनुवृत्ति करने से उक्त अर्थ का लाभ हो जाएगा अथवा 'रुधिर' इत्यादि में 'इरित' इस स्थल में 'अकारान्त औपदेशिक' धातु स्वरूप स्वीकार करें । धातु पाठ में 'अत इद्धातो:' इससे 'कृत इत्व रुधिर' का अनुकरण सूत्र-कार के निर्देशानुसार 'अद्त्वाभाव' में 'इत्व' मानेंगे । 'इरितो वा'[3] इसमें

---

1. अष्टाध्यायी, 7/1/158.
2. वही, 7/1/157.

'अकार' का ही 'कृतेत्व' निर्देश मानेंगे, परन्तु ऐसा मानने पर 'उपदेशावस्था' में 'स्धृ' इस अवस्था में 'अकार' का 'उपदेशे नुनासिक इत्' इस सूत्र से 'इत्संज्ञा' लेगेगी । इस प्रकार उपदेश में 'इर्' यह शब्द स्वरूप ही नहीं है, न उसकी 'इत्संज्ञा' का उपाय प्रतिपादन करना है अथवा 'इरितो वा' इस सूत्र निर्देश से 'इर्' इसकी 'इत्संज्ञा होगी ।[1]

वुग्युटाववङयणोः सिद्धौ वक्तव्यौ[2]

'असिद्धवदत्राभात्'[3] इस सूत्र के भाष्य में 'वुग्युटावुवङयणोः सिद्धौ वक्तव्यो' यह वार्तिक पढ़ा गया है । उक्त सूत्र के अनुसार 'उवङयणोः' की कर्त्तव्यतां 'वुक् युट्' की 'असिद्धि' प्राप्ति होगी । वह इस वार्त्तिक से वारित होती है । अतः 'बभूव' आदि में 'भुवावुग्लुङ् लिटोः[4]' इससे 'वुक्' हुआ 'एरनेकाच' से 'यण' नहीं हुआ । 'दिदीये' यहाँ पर 'दीङोयु चि क्ङिति' इससे 'युट्' हुआ । नहीं तो उक्त सूत्र के अनुसार 'वुक्' और 'युट्' के असिद्ध होने के कारण 'वुक्' करने पर भी उसके असिद्ध होने के कारण 'उकारान्त' ही धातु होगी । 'बभूव' इत्यादि में 'उवङ्दुर्वार' हो जाता है । इसी प्रकार 'दिदीय'

---

1. महाभाष्य प्रदीपोद्योत
2. लघुसिद्धान्त कौमुदी, भ्वादिप्रकरणम्, पृष्ठ 590.
3. अष्टाध्यायी, 6/4/22.
4. वही, 6/4/88.

में प्रत्यय को 'युडागम' होने पर भी उसके असिद्ध होने के कारण अनादि प्रत्यय परत्व होगा तथा 'यण्' होने लगेगा ।

भाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान किया है । 'भुवोवुङ्लुङ् लिटो' इससे अव्यवहितोत्तर 'उदुपधाया गोहः'[1] यह सूत्र पढ़ा है । वहाँ पर 'भुवोवुग्लुङ्लिटोउपधायाः' इससे योग विभाग करते हैं । वहाँ पर 'ओः सुपि'[2] इससे 'ओः' इसका अनुकरण करते हैं । इसके बाद 'भुवः उकारात्मिका उपधा' को 'उत्' यह सूत्रार्थ होगा । इस प्रकार बभूवतुः, बभूव इत्यादि में 'उवङ्' करने पर 'भुव' हो जाने पर 'उपधा' को इससे उदादेश होने पर बभूवतुः, बभूव इत्यादि सिद्धि हो जाएगी । 'ओ' इसमें 'अकार' का भी, 'प्रश्लिष्ट' मानेंगे । 'अ + उ = ओ तस्य ओः' यह सिद्ध हो जाएगा । इससे बभूव, बभूविथ यहाँ पर 'गुण वृद्धि' का 'अभावादेश' करने पर 'उपधाभूत अवर्ण' को इससे 'उदादेश' होकर इष्ट सिद्धि हो जाएगी । इस प्रकार इष्ट की सिद्धि हो जाने के कारण 'वुक्' के लिए इस वार्त्तिक को करना अनिवार्य नहीं है । 'युट्' सिद्धि के लिए भी इसकी आवश्यकता नहीं है । 'युट्' विधान सामर्थ्य से ही 'दिदीये' इत्यादि में 'यण् भाव' के सिद्ध होने के कारण नहीं तो 'युट्' विधान व्यर्थ होता । 'युट्' न होने पर 'यण्' होने पर 'एकयकारं' 'दिदीये' इति 'युट्' करने पर 'यण्' होने पर दो प्रकार का रूप होगा । यदि कोई कहे

---

1. अष्टाध्यायी, 6/4/89.
2. वही, 6/4/83.

कि 'युट्' विधान 'यण्' रोकने में समर्थ नहीं है तो नहीं, कह सकते, 'व्य जन' से परे अनेक प्रकार श्रवण विशेषाभाव ही फल होगा ।

क्ङितिरमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं विप्रतिषेधेन[1]

'भ्रस्जोरोपधयोरमन्यतरस्याम्'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'भ्रस्जोदेशात्सम्प्रसारणं विप्रतिषेधेन' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । इसलिए 'भृज्यात् भृष्टः' आदियों में पर 'रमागम' को बाधकर पूर्व प्रतिषेधेन 'ग्रहिज्या'[3] इस सूत्र से 'सम्प्रसारण' होता है । इससे 'विप्रतिषेध' वार्तिक के अभाव में 'परत्वात् रमागम' होता है । नित्य होने के कारण ही सम्प्रसारण से 'रमागम' की बाधता को आश्रय करके पूर्व 'विप्रतिषेधेन' इस वार्त्तिक भाष्यकार ने प्रत्याख्यान[4] किया है क्योंकि सम्प्रसारण नित्य है 'रमागम' करने पर भी प्राप्त होता है । न करने पर भी 'रमागम' 'अनित्य' है । 'सम्प्रसारण' करने पर नहीं प्राप्त होता । उस समय 'रेफाभाव' होने के कारण यद्यपि 'सम्प्रसारण' होने पर 'रमागम' दूसरे को होता है न होने पर दूसरे को होता है । अतः शब्दान्तर प्राप्ति है तथापि कहीं-कहीं 'कृत

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तुदादि प्रकरणम्, पृष्ठ 612.
2. अष्टाध्यायी 6/4/47.
3. वही, 6/1/16.
4. इदमिह सम्प्रधार्यम् - भ्रस्जादेशः क्रियताम सम्प्रसारणमिति, किमत्र कर्त्तव्यम् ? परत्वात् भ्रस्जादेशः नित्यत्वात् सम्प्रसारणमित्यादि ।

   - तत्त्वबोध सिद्धान्त कौमुदी ।

प्रसङ्गित्वमाश्रय' से 'नित्यता स्वीकार कर ली जाती है अत: सम्प्रसारण की 'नित्यता' माननी चाहिए यह तत्त्वबोधिनी[1] में स्पष्ट है ।

स्पृशमृशकृषतृपदृषां च्लेः सिज्वा वाच्यः[2]

'च्लेः सिच्'[3] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । इस वार्त्तिक से इन धातुओं से 'सिच्' का विधान होता है । 'शलइगुपधादनिटः क्सः'[4] इससे 'सिच्' बाधक 'क्सादेश' हो जाने पर पाक्षिक 'सिच्' विधानार्थ 'वार्त्तिकारम्भ' किया गया । 'सिच्' भाव में प्राप्त 'क्स अङ्' होवे । इसलिए 'सिच्' पक्ष में अस्प्राक्षीत्, अत्राप्सीत् यह रूप होगे । 'सिज्' भाव पक्ष में अस्पृक्षत्, अतृपक्षत्, अतृपत् इत्यादि रूप सिद्ध होगे ।

---

1. न च सम्प्रसारणात्पूर्व धातोरेफस्य पश्चात्तु र भाग में रेफस्यति शब्दान्तर प्राप्त्या सम्प्रसारणस्य नित्यत्वं नेति शक्यं, लक्ष्यानुरोधेन कृताकृत प्रसङ्गित्वेनापि क्वचिन्नित्यत्व स्वीकारात् । - तत्त्वबोधिनी सिद्धान्त कौमुदी, प्रकरणम्
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, भ्वादि प्रकरणम् । पृष्ठ 615.
3. अष्टाध्यायी 3/1/44.

शतृम्फादीनां नुम्वाच्यः[1]

'शे मुचादीनाम्'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। वार्त्तिक में आदि प्रकारार्थक है व्यवस्थावाची नहीं है। इसलिए 'तृम्फादि' का अर्थ 'तृम्फ' सदृश है। सादृश्य 'नकारानुशक्त होंगे वह 'तृम्फादि' है। 'तृम्फति' आदि में 'अनदितामिति' इस सूत्र से न लोप होने पर भी 'नकारश्रवण' के लिए इस वार्त्तिक से वहाँ पर 'नुम्' का विधान होता है। यदि ये 'तृम्फादि इदित' कर दिए जाएँ तब भी नहीं बन सकता। ऐसा करने पर 'तम्फित' यहाँ पर 'अनिदिताम्' इससे न लोप नहीं होगा।

'मुचादियों' में 'तृम्फादियों' पाठाश्रयण करके अथवा 'इदितोनुम्धातोः' इस सूत्र में 'धातोः' पर का योग विभाग करके 'तृम्फति' आदियों में 'नुम्' की सिद्धि करके इस वार्त्तिक का भाष्य में प्रत्याख्यान है।[3] यहाँ यह अभिप्राय है 'इदितोनुम् धातोः' इसमें योगविभाग, उसमें 'शेमुचादीनाम्' इससे 'शे' का अपकर्षण करेंगे। योग विभाग इष्ट सिद्धि के लिए होता है। अतः 'तृम्फादियों'

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तुदादि प्रकरणम्, पृष्ठ 626.

2. अष्टाध्यायी, 7/1/59.

3. यदि पुनरिमेमुचादिषु पठ्येरन ? न स्यात्। अथवा नेवं विज्ञायत इदितो नुम्धातोरिति। कथं तर्हि ? इदितोनुम् ततो धातोरिति।

– महाभाष्य, 7/1/68.

से 'शेषरत: नुम्' होगा । अति प्रसक्ति योग विभागेष्ट सिद्धि से ही परिहार्य है ।[1]

भस्जैरन्त्यात्पूर्वोनुम्वाच्य:[2]

'मिदचो न्त्यात्पर:'[3] इस सूत्र के भाष्य में 'अन्त्यात्पूर्वोमस्जेर्मिदनुषङ्ग-संयोगादिलोपार्थम्' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । भाष्य वार्त्तिक में 'मिद:' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । भाष्य वार्त्तिक में 'मिद:' यह कहा गया है । उसी का फलितार्थ कथन 'नुमित' कौमुदी के वार्त्तिक में है । 'नुम्' का अन्तिम 'इत्' भस्ज में है ही नहीं । 'आनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थ' यह अंश प्रयोजन कथन है । अतएव इस अंश को आचार्य वरदराज ने त्याग दिया है । 'मिदचो न्त्यात्पर:' इस सूत्र से अन्तिम 'अच्' से पर प्राप्त रहा, अन्तिमवर्ण से पूर्व विधान के लिए यह सूत्र किया गया । इसका प्रयोजन आनुषङ्गलोप संयोगादिलोप' है । 'आनुषङ्ग

---

1. धातूपदेशावस्था यामेव नुम्यथास्यादिति । यदि धातोरिति योग विभाग: क्रियते तदा सर्वस्य सर्वत्र प्रसङ्ग: । नैष दोष: । शेमुचादिनामिति श ग्रहण-स्य धातोरित्यत्र सिंहावलोकित न्यायेनापेक्षणाद्योगविभागस्येष्ट सिध्यर्थत्वाद्दा।

- प्रदीप - 7/1/59.

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तुदादि प्रकरणम्, पृष्ठ 630.

3. अष्टाध्यायी 1/1/47

लोप शब्द से 'नकार' कहा जा रहा है । इसलिए 'मग्न, मग्नवान्' आदियों में इस वार्त्तिक के बल से 'भस्जनशोर्जलि' सूत्र से 'जकार' के पूर्व 'नुम्' हुआ । उसका 'अनिदिताम्' इस सूत्र से लोप हुआ । 'सकार' का 'स्कोः संयोगाद्योरन्त्ये च' से लोप हुआ । इस वार्त्तिक के न रहने पर 'अकार' से परे 'नुम्' होता है, तब 'संयोगादित्व' न होने के कारण 'सकार उपधात्व' नहीं होता 'न' तो 'नकार' का लोप होता ।

अडभ्यासव्यवाये पि ।सुटकात्पूर्वः। इति वक्तव्यम्[1]

'सुट्कात्पूर्वः'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'अडव्यवाय उपसंख्यानम्' ये दो वार्त्तिक पढ़े गए हैं । 'अट्' और अभ्यास के 'व्यवाय' में भी 'सुट्' 'ककार' से पूर्व होता है । यह दोनों वार्त्तिक के अर्थ हैं । इसलिए स चस्कार, समस्कर्षीत् आदियों में 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' सूत्र 'सुट्' 'ककार' से पूर्व होता है । नहीं तो प्रथम प्रयोग में 'चकार' से पूर्व और अन्तिम में 'अट्' से पूर्व 'सुट्' होता है ।

'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इसका आश्रयण करने से अड्द्विवचन से पहले ही 'सम् कृ' इस अवस्था में ही 'सुट्' होगा । इसके बाद 'सुट्' सहित

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तुदादिप्रकरणम्, पृष्ठ 636.
2. अष्टाध्यायी 6/1/135.

को 'अट्' द्विवचन होंगे । इस प्रकार बिना वार्त्तिक के ही स चत्कार समस्काषीत इत्यादियों में 'ककार' से 'सुट्' सिद्ध है । अत: इन वार्त्तिकों को भाष्यकार ने प्रत्याख्यान कर दिए हैं ।

वृत्तिकार ने तो 'अड्भ्यास व्यवाये पि' यह सूत्र रूप में पढ़ा है परन्तु भाष्य में इसे वार्त्तिक के रूप में देखे जाने के कारण, इसका सूत्र में वृत्तिकार ने प्रक्षेप किया है, ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि कैय्यट के अनुसार 'अडभ्यासव्यवाये-पि' इस सूत्र का पाठ न होने पर वार्त्तिक की प्रवृत्ति है । इसमें आचार्य नागेश भट्ट ने सूत्रपाठ स्वीकार किया है ।

सर्वप्रातिपदिकेभ्य: क्विब्वा वक्तव्य:[1]

उक्त सूत्र एवं भाष्य में 'आचारे वगल्भ'[2]इत्यादि पूर्वोक्त वार्त्तिक उपक्रम करके दूसरे ने कहा - इस उक्ति सहित सर्वप्रातिपदिको से आचार 'क्विप्' कहना होगा । अश्वति, गदभति, इन दो प्रयोगों के लिए यह वार्त्तिक पढ़ा जाता है । इससे प्रातिपदिक मात्र से आचारार्थ में 'क्विप्' का विधान होगा। यह क्विप् प्रातिपदिक मात्र से होगा, न तो 'सुबन्त' से । अत: 'अश्वति' आदियों में 'पदान्त' का अभाव होने के कारण 'अतो गुणे' से पररूप होता है । यह 'सर्वेभ्य:' यह कहने से ही सिद्ध रहा 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य' इस उक्ति से प्रातिपदिकेभ्य' इस उक्ति से प्रातिपदिक ग्रहण से लब्ध होता है ।[2]

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, नामधातु प्रक्रिया, पृष्ठ 1014.
2. महाभाष्य प्रदीप

प्रातिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च[1]

उक्त वाक्य गण सूत्र है, तथा चुरादिगण पठित है परन्तु विडम्बना यह है कि, आजकल इसे वार्त्तिक माना जा रहा है। इसका अर्थ है - कि प्राति-पदिक से धात्वर्थ में णिच् प्रत्यय होता है, और जैसे 'इष्ठन्' प्रत्यय के परे रहते प्रातिपदिक को पुंवद् भाव, रभाव, टिलोप, विन्मतुब्लोप-यणादि लोप, प्र० स्थ० स्फाद्यादेश, यसंज्ञा, इत्यादिक कार्य होते हैं, वैसे ही णिच् प्रत्यय से परे रहने पर प्रातिपदिक को होते हैं। जैसे - पटुमाचष्टे - पटयति।

पटु + णिच् - टिलोप, धातु संज्ञा तथा त्तटादिकरके 'पटयति यह रूप सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार - गोमन्तमाचष्टे, इति गवयति, यह प्रयोग 'मतुप्' का लोप होकर सिद्ध होता है। अन्य उदाहरण स्पष्ट है।

---------::0::---------

पञ्चम् प्रकरणम्

कृदन्त प्रकरणम्

केलिमर उपसंख्यानम्[1]

'तव्यत्तव्यानीयर:'[2] सूत्र तथा भाष्य में वार्त्तिक पठित है । 'पचेलिमा' माषा: पक्तव्या: भिदेलिमा: सरला: भेत्तव्या:'[3] यह व्याख्यान भाष्य में 'वक्तव्या: भेतव्या' इत्यादि विवरण द्वारा शुद्धकर्म में प्रयह प्रत्यय है । 'तव्यत्' विवरण से यही ज्ञात होता है । 'तव्यत्' शुद्ध कर्म में ही होता है न कि 'कर्म-कर्त्ता' में । वृत्तिकार[4] तो 'कर्मकर्त्ता' में इस प्रत्यय को कहा है । 'कित्व-भेदलिमा' इत्यादि में गुण निषेध के लिए तथा 'रेफ स्वरार्थ' है ।

मूल विभुजादिभ्य: क: उपसंख्यानम्

इस वार्त्तिक को महर्षि पतञ्जलि ने 'तुन्दिशोकयो: परिमृजापनुदो:' अष्टाध्यायी के भाष्य में वचनरूप से पठित किया है । मूलविभुजादिभ्य: यह चतुर्थी तादर्थ्य अर्थ में है, जिससे वार्त्तिक का अर्थ होता है कि 'मूलविभुजादि' प्रयोग की सिद्धि के लिये 'क' प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिए ।

जैसे - मूलानि विभुजति इति 'मूलविभुजोरथ:' मूलानि इस कर्म के पूर्वपद में होने वि पूर्वक 'भुज', धातु से 'क' प्रत्यय होकर सम्पन्न हुआ । 'आकृतिगणोंयम्' यह कर भाष्यकार, मूलविभुजादिकों को आकृति माना -जिससे महीं जिघ्रति इति महीध्र: और कुध्र:, मित्र:इत्यादिक प्रयोग की अज्जसा सम्पन्न होंगे ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, कृत्यप्रकरणम्, पृष्ठ 638.
2. अष्टाध्यायी, 3/1/96. 3. महाभाष्य 3/1/96.
4. पचेलिमा माषा:, भिदेलिमानि काष्ठानि । कर्मकर्तरि चायमिष्यते ।
 - महाभाष्य 3/1/96.

क्विब्वचिप्रच्छयायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घो सम्प्रसारणं च[1]

'अन्येभ्यो पिदृश्यते'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पठित है । इससे वाच्यादि से 'क्विप्' तथा उसके 'सन्नियोग' से 'वाच्यादि' के 'अच्' को दीर्घ विधान किया जाता है । वाक्, शब्द प्राट्, आयस्तुः इत्यादि उदाहरण है । 'वाक्' प्राट् में 'सम्प्रसारणाभाव' के लिए 'अपर आह' इस उक्तिपूर्वक 'वचि प्रच्छयोरसम्प्रसारणं चेति वक्तव्यम्' यह वचन भाष्य में उपन्यस्त है । उसके संकलन से ही लघु सिद्धान्त कौमुदी में आचार्य वरदराज ने इस वार्त्तिक में 'असम्प्रसारण च' ऐसा जोड़कर पाठ किया है । वाक्, पाट् इन स्थलों में दीर्घ विधान सामर्थ्य से ही 'सम्प्रसारण' नहीं होगा अतः असम्प्रसारण विधान यह जो द्वितीय वचन है, वह भी भाष्य में प्रत्याख्यात है ।[3]

घञर्थे कविधानम्[4]

'ग्रहवृदनिश्चिगमश्च'[5] सूत्र के भाष्य में 'स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । भाव तथा कर्त्ता को छोड़कर कारक 'घञर्थ है. ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, कृदन्त प्रकरणम्, पृष्ठ संख्या 663.
2. अष्टाध्यायी, 3/2/178.
3. तत्तर्हि वक्तव्यम्, न वक्तव्यम् । दीर्घ वचन सामर्थ्यात् सम्प्रसारणं न भविष्यति। - महाभाष्य 3/2/178.
4. लघु सिद्धान्त कौमुदी, उत्तर कृदन्त प्रकरणम्, पृष्ठ 636.
5. अष्टाध्यायी, 3/3/58.

वहाँ पर इससे 'क प्रत्यय' का विधान होता है । इसका फल तो वार्त्तिककार स्वयं 'इस्थास्ना' आदि के द्वारा निर्देश किया है । इसलिए प्रस्थः, प्रस्नः, आविधः, विघ्नः, आयुधम् इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं । 'घ्' में इसकी साधुता नहीं होती है ।

ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्य[1]

'ल्वादिभ्यः'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पठित है । 'ऋकारान्त ल्वादियों' से परे 'क्तिन्' प्रत्यय को निष्ठा के कार्य जैसा अति आदेश इस सूत्र से होता है । अतः कीर्णिः, गीर्णिः इत्यादियों में 'रदाभ्याम्' इससे 'क्तिन् तकार' को 'नत्व' होता है । 'नत्व' का ही अतिदेश इस सूत्र से होता है, न तु अन्य निष्ठा, विहित कार्यों का । 'लूनिः, पूनिः इत्यादियों में 'ल्वादिभ्यः' से 'नत्व' होगा ।

सम्पादिभ्यः क्विप्[3]

'रोगाख्यायांण्वुल्बहुलम्'[4] सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'सम्पादियों' से स्त्री अर्थ में इससे 'क्विप्' को विधान होता है । सम्पत्, आयत् इत्यादि सिद्ध होता है ।

----------::0::---------

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, उत्तर कृदन्त प्रकरणम्, पृष्ठ 787.
2. अष्टाध्यायी 8/2/44.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, उत्तर कृदन्त प्रकरणम्, पृष्ठ 787.
4. अष्टाध्यायी 3/3/108.

षष्ठम् प्रकरणम्

समास प्रकरणम्

इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च[1]

'सहसुपा'[2] सूत्र के भाष्य में 'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'इव' के साथ समास विभक्ति लोपाभाव पूर्व-पदप्रकृतिस्वर यह इसका अर्थ होता है । समास तो 'सह सुपा' से ही सिद्ध है । विभक्ति का लोपाभाव तथा पूर्वपद प्रकृति स्वर विधान के लिए यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । यह प्रदीप में स्पष्ट है । इसके उदाहरण 'वारासी इव कन्ये इव' भाष्य में कहे गए हैं । यहाँ समास में 'सुपोधातु प्रातिपदिकयोः'[3] से प्राप्त 'सुब् लुक्' इससे वारण होता है । 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था पूर्वपद प्रकृति स्वर विधान करता है । वासस् शब्द 'वसेर्णित'[4] इस सूत्र से असुन् प्रत्ययान्त है । नित्स्वर के द्वारा आद्युदात्त है । कन्या शब्द 'कन्या राजन्य-मनुष्याणाम्'[5] इस फिट् सूत्र से अन्त स्वरित है । वाससी इव इत्यादि में समास उत्पन्न सुप् का 'अव्ययादाप्सुपः'[6] सूत्र से लुक् होगा । अव्यय संज्ञा विधि में तदन्त होने के कारण इव शब्द जैसे तदन्त समास की भी अव्यय संज्ञा है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अव्ययी भाव समास प्रकरणम्, पृष्ठ 821.
2. अष्टाध्यायी, 2/1/4.
3. वही, 2/4/71.
4. लघु सिद्धान्त कौमुदी उणादि प्रकरणम्, सूत्र 667.
5. वही, फिट् सूत्रम्, च० पाद० 76.
6. अष्टाध्यायी 2/4/82.

समाहारे चायमिष्यते[1]

'नदीभ्यश्च'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'नदीभि: संख्यासमासेऽन्यापदार्थे-प्रतिषेध:' इस वार्त्तिक के प्रत्याख्यान प्रसङ्ग में 'नदीभि: सङ्ख्याया: समाहारेऽ-व्ययीभावो वक्तव्य:' इस भाष्य वाक्य का अनुवाद रूप है। यह वार्त्तिक 'समाहारे चायमिष्यते' वरदराज जी ने पढ़ा है। नदीभि: सूत्र से नदी वाची वाची शब्दों के साथ संख्या का अव्ययीभाव समास का विधान होता है। यह समास समाहार गम्यमान रहने पर होता है और फिर 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणी-भ्य:'[3] इसके द्वारा पाक्षिक टच् और नपुंसक हो जाए। 'एकनदम्' और 'एक-नदि' यह ही हो न कि एक नदी और यहाँ पर 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला: समानाधिकरणेन'[4] इस सूत्र से तत्पुरुष समास इष्ट है। 'नदीभ्यश्च' यह अव्ययी-भाव समाहार में ही होता है। ऐसा न कहने पर 'पुरस्तादपवादानन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इस न्याय से अव्ययीभाव पूर्वकालैक इस समास को बाधेगा। 'एक नदी' यहाँ पर पूर्वकालैक यह समास न होता। अव्ययीभाव ही होता। इसलिए भाष्यकार ने कहा है - 'स चावश्य वक्तव्य: सर्वमेकनदीतीरे' यह सब प्रदीप में स्पष्ट है।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अव्ययीभाव समास प्रकरणम्, पृष्ठ 829.
2. अष्टाध्यायी 2/1/20.
3. वही, 5/4/110.
4. वही, 2/1/49.

अर्थेननित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्[1]

'चतुर्थीतदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः'[2] सूत्र के भाष्य में 'अर्थेन नित्यसमासवचनं' सर्वलिङ्गताच यह दोनों वार्त्तिक पठित हैं। वहाँ पर 'सर्वलिङ्गतो' का ही अनुवाद 'विशेष्यलिङ्गता' है। चतुर्थी तदर्थार्थ' सूत्र से 'चतुर्थ्यन्त' से अर्थ के बल से समास होता है लेकिन वह समास ‡महाविभाषाः‡ के अधिकार में होने से विकल्प से प्राप्त होता है। उसके नित्य विधान के लिए प्रथम वार्त्तिक है। इसलिए 'ब्राह्मणार्थमित्यादि' में 'ब्राह्मणायेदमिति' 'अस्वपद' से ही विग्रह हुआ न कि अर्थ पद से। 'अविग्रह' अथवा 'अस्वपदविग्रह' नित्य समास कहलाता है। इसलिए भाष्यकार ने कहा है 'सर्वथा र्थेन नित्य समासो वक्तव्यः विग्रहो माभूदिति'।[3] इस प्रकार अर्थ शब्द नित्य पुल्लिङ्ग होने के कारण और तत्पुरुष के उत्तरपदप्रधान होने से अर्थशब्दान्त तत्पुरुष के नित्य पुल्लिङ्ग प्राप्त होने पर 'विशेष्यलिङ्गता कहनी चाहिए। यह दूसरे वार्त्तिक का अर्थ है। जैसे - ब्राह्मणार्थं पयः ब्राह्मणार्थं सूपः, ब्राह्मणार्थं यवागूरिति। यह दोनों वार्त्तिक की भाष्यकार ने अनेक प्रकार से खण्डन किया है। जैसे -'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ'[4] इस सूत्र में 'तदर्थे तर्थम्' यह न्यास करते हैं इसके बाद 'विकृते प्रकृतौ'। 'तदर्थं तर्थम्' इससे 'तदर्थ' में 'तर्थम्' प्रत्यय होता उससे 'ब्राह्मणार्थ' इसकी सिद्धी हो

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम्, पृष्ठ 836.
2. अष्टाध्यायी, 2/1/36.
3. वही, महाभाष्य, 2/1/35.
4. अष्टाध्यायी, 5/1/2.

जायगी । इस प्रकार यह अर्थ शब्द से समास नहीं हुआ अपितु यहाँ पर 'सर्थप्' प्रत्यय जानना चाहिए जबकि प्रत्यय से विग्रह नहीं होता । 'सर्थप्' प्रत्यय में 'सकार' की 'आदिति' दुडवष्यप्रत्ययस्य' इस संहिता पाठ में 'सकार' का भी 'प्रश्लेष' करके 'इत्संज्ञा' हो जायगी । 'सित्करण राजार्थमित्यादि' में 'सिति च' पदत्व के लिए होगा जिससे 'नजोपादि' की सिद्धि होगी । यह एक प्रत्याख्यान प्रकार है लेकिन इस रीति से श्र्यर्थम्, भ्व्रर्थम् इत्यादि में 'सर्थप्' प्रत्यय मानकर 'इयड्उवड्.' प्राप्त होते हैं । इसलिए अन्य प्रकार से भी भाष्यकार ने खण्डन किया है । वह इस प्रकार है - 'ब्राह्मणार्थ' इत्यादि में 'तत्पुरुष' नहीं है । बहुव्रीहि यद्यपि वैकल्पिक है तथापि 'समुखः', इत्यादि में 'अस्वपदविग्रह' भी होता है । यह पर विग्रह है 'शोभनं मुखं यस्य' 'शोभन' पद से और समास 'सु' पद से । इसी प्रकार अर्थ शब्द के साथ भी 'अस्वपद' विग्रह बहुव्रीहि हो जाएगा । इसलिए 'ब्राह्मणाय अर्थो यस्य' यह विग्रह नहीं है । 'ब्राह्मणोऽर्थो यस्य' यह 'समानाधिकरण' विग्रह तो होता है । वहाँ पर अर्थ शब्द 'प्रयोजन वाची' है । 'ब्राह्मणादि उपकार्य' होने से प्रयोजन है । इस प्रकार से 'ब्राह्मणार्थः सूपः ब्राह्मणाय यवागू' इत्यादि में अर्थ से समासे और 'सर्वलिङ्गता' के सिद्ध होने पर 'तदर्थं' उक्त वार्त्तिक द्वय को आरम्भ नहीं करना चाहिए । लेकिन बहुव्रीहि स्वीकार करने पर 'महदर्थ' इत्यादि में भी 'महान् अर्थो यस्य' यह 'समानाधिकरण' बहुव्रीहि ही कहना चाहिए । तो फिर 'आन्महतः समानाधिकरण जातीययोः'[1] से 'आत्वापत्ति' होगी और 'बहुव्रीहि लक्षण समासान्त

---

1. अष्टाध्यायी 6/3/46

कब्रापत्ति' भी होगी । इसलिए तीसरा भी खण्डन का प्रकार भाष्यकार ने कहा है । वह यह कि 'तदर्थ' का जो 'उत्तरपद' अर्थ का आदेश किया है आदेश के साथ विग्रह नहीं होता । जैसे 'ब्राह्मणाय पय: ब्राह्मणार्थम्' यह पर 'पय' शब्द को 'अर्थशब्दादेश' हो गया है उसी प्रकार यहाँ पर भी होगा । 'तदर्थ' शब्द के 'उत्तरपद' को 'अर्थादेश' किससे होगा । कहते हैं - चतुर्थी तदथार्थ' इस सूत्र में 'चतुर्थी' यह योगविभाग कर लेंगे । 'चतुर्थ्यन्त' का समर्थ 'सुबन्त' के साथ समास होता है यही उसका अर्थ है । तब फिर 'तदर्थार्थ' यह योग करेंगे । 'तदर्थ' के अर्थ में यह आदेश होता है यह उसका अर्थ है लेकिन ऐसा स्वीकार करने पर 'उदकार्थो वीवध:' वीबध शब्द को अर्थादेश होने पर 'स्थानिवद्-भाव' से उसको 'बीवध' शब्द से ग्रहण हो जाने से मन्थोदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहार-वीवधगाहेषु च'[1]सूत्र से 'उदक' शब्द को 'उदादेश' की आपत्ति होगी । अत: इस प्रत्याख्यान प्रकार की उपेक्षा करके चौथा प्रत्याख्यान का प्रकार भाष्य में कहा है । जैसे - विग्रह में अर्थशाब्द का प्रयोग न हो इसलिए ही इससे नित्यसमास कहते हैं अन्यया 'ब्राह्मणेभ्योऽयं' की तरह 'ब्राह्मणेभ्योऽर्थं' यह 'अनिष्ट' विग्रह वाक्य प्रसक्त होगा । यहाँ पर कहना चाहिए कि 'ब्राह्मणोभ्य' में 'तदर्थ' में 'चतुर्थी' है । अत: 'चतुर्थी' से ही 'तदर्थ' उक्त हो जाने से, 'चतुर्थी' के संम-विधान में अर्थशब्द का प्रयोग नहीं है । 'उक्तार्थानाम् प्रयोग: ' इस न्यास से । 'चतुर्थ्यन्त' का अर्थ शब्द के साथ समास 'चतुर्थी तदर्थ' इस 'विधानबलात्' हो

---

1. अष्टाध्यायी 6/3/60.

हो जायगा 'अर्थेन नित्य समासवचनं' बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है और 'सर्वलिङ्गता' का विधान भी व्यर्थ है 'लिङ्गस्य लोकाश्रित' होता है । यह सब इसी सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ।

सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव:[1]

'दिङ्नामान्यन्तराले'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावा' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । यह वहाँ पर भाष्यकार का वचन ही वार्त्तिक नहीं । 'तद्धितार्थोत्तर पदसमाहारे च' इस सूत्र के व्याख्यान के समय 'पार्वशाल:' इत्यादि में 'पुंवद्भाव करने के लिए लघु सिद्धान्त कौमुदी में इसका अवतरण किया गया है । 'दक्षिणपूर्वा' इत्यादि में 'दिङ्नामान्यन्तराले' इस समास में दक्षिणादि शब्दों को 'पुंवद्भाव' करने के लिए भी इसका फल है । यद्यपि 'पौर्वशाल:' में तत्पुरुष करने पर भी 'दक्षिणपूर्वादि' में बहुव्रीहि करने पर भी 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु'[3] 'स्त्रिया: पुंवद्भाषित पुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे'स्त्रियामपूरणी प्रियादिषु'[4] से 'पुंवद्भाव' सिद्ध है तथापि 'दक्षिणोत्तर-पूर्वाणों' इत्यादि में जहाँ पर 'समानाधिकरण उत्तरपद नहीं है वहाँ 'पुंवद्भावं'

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम् , पृष्ठ 842.
2. अष्टाध्यायी 2/2/26.
3. वही, 6/3/42.
4. वही, 6/3/34.

करने के लिए 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव: ' करना चाहिए । 'स्त्रिया: पुंवद भाषित् पुंस्कादनूङ. समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी प्रियादिषु' इस सूत्र से 'पुंवद्भाव' समानाधिकरण उत्तरपद में ही होता है और भी जब 'पूर्वादि 'शब्द' दिशावाचक होंगे तब उनके 'भाषितपुंस्क' न होने से 'दक्षिणपूर्वा' इत्यादि में भी 'स्त्रिया: पुंवद भाषित् पुंस्कादनूङ समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी प्रियादिषु' से 'पुंवद्भाव' के अप्राप्त होने से 'तद्विधानार्थं' भी यह आवश्यक है । यद्यपि 'पूर्वादि शब्द' 'पुल्लिङ्ग' तथा 'स्त्रीलिङ्ग' जैसे -पूर्वादिक' पूर्वदेशे आदि । तथापि 'दिग्वाचक' पूर्वादि' शब्द भाषित 'पुंस्क नहीं है । जिस अर्थ को 'प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर जो शब्द स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान हो उसी अर्थ को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर यदि वह 'पुल्लिंग' में विद्यमान हो तो वह 'भाषितपुंस्क' कहलाता है । 'दिग्वाची पूर्वादि' शब्द जिस शब्द को लेकर स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान है उसी अर्थ को लेकर 'पुल्लिङ्ग' में कभी न ही प्रयुक्त होते हैं इसलिए वे 'भाषित पुंस्क' नहीं हैं । यह सब 'दिङ्नामान्यन्तराले' के सूत्र भाष्य में स्पष्ट है । इस प्रकार 'समानाधिकरणोत्तरपद' के अभाव में 'अभाषित पुंस्क' को भी 'पुंवद्भावार्थं सर्वनाम्नो पुंवद्भावो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव' वचन है । न्यासकार ने तो 'स्त्रिया: पुंवद् भाषित् पुंस्कादनूङ. समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी प्रियादिषु' इस सूत्र में 'स्त्रिया:' पुंवद् इस वचन के द्वारा सिद्ध किया है ।[1]

---

1. स पुन: 'स्त्रिया: पुंवत्' इति योग विभाग से सिद्ध है । - न्यास 2/2/26.

द्वन्द्व तत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्[1]

'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'वाक्य दृषच्च प्रिये यस्य वाग्दृषद्प्रियः' इत्यादि में दोनों पदों का द्वन्द्व समास नित्य ही होने लगेगा । इसी प्रकार 'प च गावो धनं यस्य' इस 'त्रिपद बहुव्रीहि' में आदि 'प च' और 'गो पदों' का 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' से नित्य तत्पुरुष समास होने लगता इसलिए इस वार्त्तिक का आरम्भ किया अन्यथा उक्त 'स्थलद्वय' में'त्रिपद बहुव्रीहि' में भी 'महाविभाषा' के अधिकार से पूर्व दोनों पदों का वैकल्पिक द्वन्द्व समास और वैकल्पिक तत्पुरुष समास होने लगेगा एवं द्वन्द्व पक्ष में 'वाग्दृषद्प्रियः' में 'द्वन्द्वाच्चुषदहान्तात् समाहारे'[3] सूत्र से समासान्त 'टच्' होने लगेगा । द्वन्द्वाभावपक्ष में 'टच्' न होगा । 'वाग्दृषदप्रियः' यह ही इष्ट है न कि वाग्दृषन्तत् प्रियः' । इसी प्रकार 'प च-गव धनः' में पूर्व में दोनों पदों का तत्पुरुष समास होने पर 'गोशब्दोत्तर' में 'गोरतद्धितलुकि'[4] सूत्र से 'समासान्त टच्' होने लगेगा और तत्पुरुषाभावपक्ष में 'टच्' न होता तो 'प चगोधनः' यह प्रयोग की अनिष्टापत्ति होगी । अतएव जब उत्तरपद के साथ बहुव्रीहि होगा उस समय दोनों पूर्वपदों का नित्य [illegible] और

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम्, पृष्ठ 843.
2. अष्टाध्यायी, 2/1/51.
3. वही, 5/4/106.
4. वही, 5/4/92.

तत्पुरुष होंगे । एतदर्थं यह वार्त्तिक आरम्भ किया गया । भाष्यकार ने तो इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है । वह प्रकार है - समास में 'एकार्थीभाव' पक्ष और 'व्यपेक्षा' दो पक्ष होते हैं । ये दोनों ही पक्षों को भाष्यकार ने 'वृत्तिपक्ष और अवृत्तिपक्ष' शब्दों से दिखाया है । उसमें भी जब त्रिपद बहुव्रीहि है उस समय बहुव्रीहि की सिद्धी के लिए 'वृत्तिपक्ष' अवश्य स्वीकार करना चाहिए । इस पक्ष में तीनों पदों में 'एकार्थीभाव' नहीं है यह कहना असम्भव होगा । अतः पूर्व दोनों पदों में भी एकार्थीभाव की अनिवार्यता से द्वन्द्व और तत्पुरुष हो जायगा । अवृत्तिपक्ष में (व्यपेक्षा पक्ष में) न बहुव्रीहि होगा न ही द्वन्द्व और तत्पुरुष ही । इस प्रकार यह वार्त्तिक नहीं करना चाहिए । आगे भाष्यकार कहते हैं - 'तत्तर्हि वक्तव्यम्'[1] न वक्तव्यम् । इह द्वौ पक्षौ वृत्ति पक्षश्चावृत्तिपक्षश्च । यदावृत्तिपक्षः तदा सर्वेषामेव वृत्तिः । यदा वृत्तिः पक्षस्तदा सर्वेषामवृत्तिरिति' । यह सब भाष्यप्रदीप में स्पष्ट है ।

शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्[2]

वर्णो वर्णेन'[3] इस सूत्र के भाष्य में 'समानाधिकार' शाक पार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'शाकभोजी पार्थिवः इत्यादि इसके उदाहरण हैं । इस उदाहरण में 'शाक भोजी घटक भोज्यादिरूपो-

---

1. महाभाष्य 2/15/50.
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम्, पृष्ठ 846.
3. अष्टाध्यायी 2/1/69.

त्तरपद' का लोप करने के लिए यह वार्त्तिक बनाया गया है । समास तो 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इससे ही होगा । यहाँ पर 'शाकादि' पद की ही 'शाकभोज्याद्यर्थ' में लक्षणा करने पर तथा 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[1] इससे ही समास कर लेने पर 'शाकपार्थिव:' की सिद्धि हो जायगी । शाकभोजी इस अर्थ का ज्ञान उक्त, प्रकार से ही हो जायगा । 'भोज्यादि' पद की 'प्रयोगापत्ति' भी नहीं होगी । एतर्थं उत्तरपद के लोप करने के लिए इस वार्त्तिक को नहीं करना चाहिए यह कैयट का मत है । यह सब प्रदीप में स्पष्ट है । इस पर नागेश कहते हैं कि जब 'शाकभोजी' इत्यादि 'पदद्वय' के समुदाय से 'शाकभोजी' रूप अर्थ अभिप्रेत है तब 'शाकभोज्यादि' पद का 'पार्थिवादि' पद के साथ समास करने पर 'शाकभोजीपार्थिव:' इत्यादि प्रयोग का वारण करने के लिए इस वार्ति को करना ही चाहिए । यह उद्योत में स्पष्ट है ।

<u>प्रादयो: गताद्यर्थे प्रथमया</u>[2]

<u>अनादय: क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया</u>[3]

<u>अवादय: क्रुष्टा द्यर्थे तृतीयया</u>[4]

---

1. अष्टाध्यायी 2/1/57.
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम्, पृष्ठ 849.
3. वही, पृष्ठ 750.
4. वही, पृष्ठ 852.

पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या[1]

निरादय: क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या[2]

'कुगति प्रादय[3]:' सूत्र के भाष्य में 'प्रादय: क्तार्थे' इस वार्त्तिक का उपन्यास करके 'एतदेव सौनागैर्विस्तरतर्केण पठितम्' उत्युक्ति पूर्वक 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' इत्यादि पाँच वार्त्तिक पढ़े गये हैं। इस प्रकार ये 'सौनाग' के वार्त्तिक 'प्रादय: कतार्थे' इस कात्यायन वार्त्तिक के ही प्रपञ्च रूप हैं। इस पर कैयट कहते हैं कि 'कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरिति विस्तरेण पठितम्'। यह सब कुगति प्रादय[4]:' सूत्रस्थ 'प्रादय:' का ही प्रपञ्च है। गताद्यर्थ' में वर्तमान प्रादी 'प्रथमाद्यन्त' के साथ समास होता है यह वार्त्तिक समूह का अर्थ है। जब 'गताद्यर्थ' में 'प्रादीयो' की आवृत्ति है तब उनकी 'गति संज्ञा न' होने से गति ग्रहण से ग्रहण न होने के कारण समास नहीं प्राप्त हुआ। अत: तद्विधानार्थ सूत्र में प्रादी का ग्रहण किया और उसके, प्रपञ्चस्वरूप इन वार्त्तिकों का अवतार किया। गताद्यर्थ में प्रादियों की वृत्ति पदैकदेशन्यास से होगी। यह उद्योत में स्पष्ट है। यथा - प्रगत: आचार्य: इस वृत्ति में

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम्, पृष्ठ 751.
2. वही, पृष्ठ 852.
3. अष्टाध्यायी, 2/2/8.
4. प्रदीप 2/2/18.

समास में 'प्र' शब्द ही 'पदैकदेशन्याय' से 'प्रगत' रूप अर्थ में विद्यमान है । और उस 'प्र' शब्द का 'आचार्य' पद के साथ समास हो गया है । इसलिए समास में 'गतपद का अप्रयोग है । उक्त रीति से 'प्र' शब्द के द्वारा ही 'तदर्थ का अभिधान हो गया है । इसी प्रकार 'अतिक्रान्तो मालाम्, अतिमाल:, अवक्रुष्ट:, कोकिलया, अवकोकिल:, परिग्लानो, अध्ययनाय, पर्यध्ययन:, निष्क्रान्त:, कौशाम्ब्या:, निष्कौशाम्बी इत्यादिकों में भी उक्तरीति से 'क्रान्ताद्यर्थ' में कहना चाहिए । ये प्रादि वृत्तिविषय में ही 'गताद्यर्थ' के बोधक हैं । शब्द की शक्ति का स्वभाव ही ऐसा है । अवृत्ति में बोधक नहीं है । अत: प्रगत: आचार्य:' इत्यादि विग्रह वाक्य में 'गतादि' शब्दों का प्रयोग होती ही है । समास में तो 'प्र' शब्द से ही 'गताद्यर्थ' का अभिधान हो जाने से 'गतादि' का प्रयोग नहीं होगा ।

गतिकारकोपपदानां कृद्भि: सह समास वचनप्राक् सुबुत्तवत्ते[1]

गतिकारकोपपदानां कृद्भि: सहसमास वचनप्राक् सुबुत्तपत्ते:' यह वस्तुत: वार्त्तिक नहीं है किन्तु उपपद 'मतिङ.' सूत्र के 'अतिग्रहण' से ज्ञापित परिभाषा है । यह 'ज्ञापनत्व' प्रक्रिया इसी सूत्र के महाभाष्य में विस्तृत वर्णित है । उसका तात्पर्य यह है कि 'उपपदमतिङ्.' इस सूत्र में 'सुबामान्त्रिते' इस सूत्र से सुप् पद तथा 'सहसुपा' सूत्र से तृतीयान्त सुपा पद यदि अनुवृत्त हो जाय तो

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम्, पृष्ठ 854.

'उपपद प्रथमान्त' का 'समर्थ सुबन्त' के साथ समास विधान होने से 'तियन्त' के साथ समास होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है । अतः इस सूत्र में 'अतिंग्रहण' जो 'तियन्त' के साथ समास की 'व्यावृत्ति' के लिए दिया गया है वह व्यर्थ हो जाएगा । अतः वही व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन किया कि 'गति कारक' तथा 'उपपद' का 'कृदन्त' के साथ में जो समास हो वह 'सुप्' की उत्पत्ति से पूर्व ही हो । अतः 'गति कारक' तथा 'उपपद' का 'समर्थ कृदन्त' ही के साथ समास होना निश्चित हुआ ।

इसका फल हुआ कि 'मा भवान् भूत्' इस प्रयोग में 'माडि. लुड.' सूत्र से 'माड.' 'अव्यय उपपद' रहते हुए 'लुड्. लकार भू' धातु से हुआ है । यदि 'माड.' का 'तियन्त' के साथ समास हो जाता तो 'भवान्' मा भूत्' ऐसा ही प्रयोग होता, जो नहीं होना चाहिए । 'अतिड. ग्रहण' के द्वारा 'सुपा पद' को 'अनुवृत्ति' रुक जाने से भाष्यकार के द्वारा ज्ञापित इस वचन से जो उदाहरण सम्पन्न हुए हैं वे भाष्यादि ग्रन्थों में दिखलाये गये हैं । उनके प्रदर्शन के पहले भाष्यकार ने इस परिभाषा के ज्ञापकों की जो पूर्ति की है वह इस प्रकार है । उन्होंने 'कुप्ति-प्राद कुदति प्रादयः'[1] इस सूत्र में युग-विभाग के द्वारा दो स्वरूप दिखलाया है - 1. 'कुन्द् कुप् प्रादयः' तथा 2. 'गतिः' इसी दूसरे प्रयोग में 'उपपद मतिड.' जो अग्रिम' सूत्र है उससे 'अतिड.' ग्रहण का 'अपकर्ष' करके 'गतिः समर्थेन' सह समस्यते अतिगतश्चायं समासः' ऐसा अर्थ किये हैं जिसका भाव है कि 'गति संज्ञक'

---

1. अष्टाध्यायी 2/2/18.

शब्दों का 'समर्थ' के साथ समास होवे तथा 'उत्तरपद तियन्त' भिन्न हो इससे 'गति संज्ञक' का 'कृदन्त' के साथ 'सु व्युत्पत्ति' के पहले समास की सिद्धि ज्ञापित होती है । तथा 'कारक' का भी 'समर्थ कृदन्त' के साथ इस प्रकार का का समास होना 'एकादेशानुवति' अथवा 'स्थाली पुलाक् न्याय' से सिद्ध हो जाता है । तात्पर्य यह कि इस परिभाषा में तीन अंश हैं उनमें से एक या दो अंश यदि प्रामाणिक हो गया तो सभी 'अवशिष्ट अंश' में प्रामाणिकता मान ली जाती है अथवा भात् बनाने की 'बटलोही' में एक चावल के पक् जाने से सभी चावलों का पक जाना समझ लिया जाता है । इसी को 'स्थालीपुलाक् न्याय' कहा जाता है । अथवा 'क्रीतात्करण पूर्वात्'[1] इस सूत्र में भाष्यकार ने 'अजाद्यतष्टाप्'[2] सूत्र से । अत: शब्द की अनुवृत्ति करके 'अदन्त' जो 'क्रीत' शब्द इत्यादि अर्थ किया उसका फल है 'धनक्रीता' शब्द में 'स्त्रीत्व' का द्योतक 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होगा क्योंकि 'क्रीत' शब्द यहाँ 'अदन्त' नहीं रहा । 'टाप्' प्रत्यय होने से 'आकारान्त' बन गया तथा 'च अश्वेन क्रीता' इस लौकिक विग्रह में 'अश्व टा क्रीत' इस अलौकिक विग्रह में ङीष् प्रत्यय होकर 'अश्वक्रीति' यह प्रयोग बनता है । परिभाषा में 'सुबुत्तपत्ति' शब्द 'कृदन्त' तदादि' प्रकृतिक प्रत्यय मात्रोत्पत्तिपरक है । इसलिए टाप् की उत्पत्ति के पश्चात् ङीष् का होना सम्भव नहीं । इस प्रकार कारक अंश में भी । अत: शब्द की अनुवृति

---

1. अष्टाध्यायी 4/1/50.

2. वही, 4/1/4.

प्रमाण हुई अथवा 'कतृकरणे'कृताबहुलम्'[1] सूत्र में 'बहुल' ग्रहण भी कारक अंश में प्रमाणा माना जाता है । इसका 'मूर्धाभिषेक उदाहरण 'कुम्भकार' शब्द है । इसमें 'कुम्भं करोति' यह लौकिक विग्रह है तथा 'कुम्भ ङस्' 'कृ अण्' यह अलौकिक विग्रह है । यहाँ पर 'कुम्भ' शब्द 'कर्मवाचक उपपद' मानकर 'कृ' धातु 'कर्माणि अण्' सूत्र 'अण्' प्रत्यय हुआ है । 'अण्' प्रत्यय होने के पहले ही 'कुम्भ' शब्द से 'प्राप्त द्वितीया विभक्ति' को बाधकर 'कर्तृ कर्मणो : कृति' सूत्र से 'षष्ठी विभक्ति' हो जाती है । उसमें प्रमाण है 'उपस स जनिष्यमाण निमितो प्यपवाद: ' उपस जात निमित्तमपि उत्सर्ग बाधते' इसका अभिप्राय है कि उत्पन्न होने वाले हैं निमित्त जिसके ऐसा जो अपवादशास्त्र वह उत्पन्न हो चुके हैं निमित्त जिसके ऐसे 'उत्सर्गशास्त्र' को बाध देता है । प्रकृत स्थल में 'कर्मणि द्वितीया' यह 'उत्सर्गशास्त्र' है उसका निमित्त भूत 'कर्मसंज्ञा' हो चुकी है अब 'कर्तृकर्मणो: कृति: ' इस अपवाद शास्त्र का निमित्त भूत कृत्प्रत्यय अभी उत्पन्न होने वाला है फिर भी इस 'अपवादशास्त्र' के द्वारा द्वितीया की बाधिका 'षष्ठी' विभक्ति' हो गयी । इसके पश्चात् ही 'कुम्भ ङस्' का इस दशा में 'अण्' प्रत्यय हुआ । भाष्यकार ने तो 'षष्ठी समासात् उपपद समासो विप्रतिषेधेन' इस वार्त्तिक के द्वारा प्रकृत उदाहरण में 'उपपद समास' की बाधकता बताकर अथवा 'विभाषा षष्ठी समासो यदा न षष्ठी समास स्तदोपपद समास:' इस 'द्वितीय वचन' से 'षष्ठी समास' की 'प्राथमिकता' दिखायी है । उसके

---

1. अष्टाध्यायी 2/1/32.

अभाव पक्ष में उपपद समास का स्वरूप निर्णीत किया है ।

अब इसके तीनों अंशों के उदाहरण क्रमशः दिखाये गये हैं जिसमें गति अंश में प्रथम उदाहरण 'व्याघ्री है । जिसका विग्रह 'विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रति या सा', यहाँ पर 'आङ.' पूर्वक 'घ्रा' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'आङ.' सुबन्त उपपद का 'घ्रा' शब्द के साथ समास हुआ फिर 'गतिसंज्ञक' 'वि' शब्द का 'आघ्र' शब्द से 'कुगति प्रादयः' सूत्र से समास होकर जातिलक्षण 'ङीष्' प्रत्यय के द्वारा 'व्याघ्री' शब्द निष्पन्न हुआ । कारक अंश में 'अश्वक्रीती' यह उदाहरण प्रदर्शित हुआ । अब उपपद अंश में तृतीय उदाहरण 'कच्छपी' दिया गया है जिसका लौकिक विग्रह 'कच्छेपिवति या सा' तथा अलौकिक विग्रह 'कच्छ ङि. प्' है । इसमें 'सदम्यन्त कच्छ' शब्द उपपद रखकर 'पा पाने' धातु से 'सुपिस्थ' सूत्र से 'क्' प्रत्यय हुआ है । 'स्त्रीत्व' विवक्षा में 'जाति लक्षण ङीष्' प्रत्यय होकर 'कच्छपी' शब्द निष्पन्न हुआ । इस प्रकार इस 'परिभाषात्मक' बचन का विश्लेषण महाभाष्य, प्रदीप उद्योत, तत्त्वबोधिनी इत्यादि ग्रन्थों में विस्तृत में किया गया है ।

संख्यापूर्व रात्रं क्लीबम्[1]

'अपथं नपुंसकम्'[2], 'संख्या पूर्व रात्र क्लीबम्'[3] ये दोनों 'लिङ्गानुशासन मूलक' वार्त्तिक हैं । ये तो भाष्य में कहीं भी नहीं दिखायी देते हैं । तत्त्व-

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास प्रकरणम्, पृष्ठ 757.
2. लिङ्गानुशासन सूत्र । नपुंसकधिकारप्रकरण, अष्टाध्यायी 2/4/30.
3. सूत्र 3/5/32, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ 820.

बोधिनी में इनका स्पष्टीकरण है । 'रात्राह्नाहा: पुंसि'[1] इस सूत्र से 'पुंसव' के प्राप्त होने पर 'क्लीबत्व विधानार्थं' यह वार्त्तिक है । 'संख्या पूर्व रात्रम्' इस वचन में 'रात्रं' यह 'कृतसमासान्त' का निर्देश है । द्विरात्रं, त्रिरात्रं इन दोनों उदाहरणों में 'द्वय रात्र्यो: समाहार:', द्विरात्रं, तिसृणां रात्रीणां समाहार: त्रिरात्रमिति । समाहार द्विगु समास है । 'अहस्सर्वैकदेशसंख्यात् पुण्याच्च-रात्रे:' इस सूत्र से समासान्त अच् है । वृत्तिकार ने तो 'रात्राह्नाहा:पुंसि' में द्विरात्र:, त्रिरात्र: ये दोनों पुँल्लिङ्ग में ही उदाहरण दिये हैं । 'द्विरात्र' इत्यादि वृत्ति के उदाहरण 'समाहार द्विगु' में न्यास और पदमञ्जरीकार द्वारा व्याख्यात है ।

द्विगुप्राप्तान्नालम्पूर्वगति समासेषु प्रतिषेधो वाच्य:[2]

'परवल्लिङ्ग द्वन्द्वतत्पुरुषयो:'[3] सूत्र के भाष्य में 'परवल्लिङ्ग द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति चेत्प्राप्तापन्नालं पूर्वमिति समासेषु प्रतिषेध:' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । यह वार्त्तिक 'परवल्लिङ्ग' सूत्र से विहित 'परवल्लिङ्ग' का प्रतिषेध करता है । इसलिए 'द्विगुप्राप्तापन्नालं पूर्वक गतिसमास' में 'प्राधानार्थं प्रयुक्त' ही लिङ्ग होगा न कि 'परवल्लिङ्ग' होगा । द्विगु का उदाहरण है - 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृत: (पुरोडाश:) पञ्चकपाल: इति । यहाँ पर 'तद्धितार्थं' में

---

1. अष्टाध्यायी, 2/2/18.
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तत्पुरुष समास, प्रकरणम्, पृष्ठ 860.
3. अष्टाध्यायी 2/4/26.

पत्ये' सूत्र से 'लुक्' हो गया है । इससे 'परवल्लिङ्ग' का निषेध हो जाने से 'पर' शब्द 'कपाल' के 'नपुंसक' होने पर भी समास में 'नपुंसक' नहीं होगा अपितु 'तद्धितार्थ' की अपेक्षा करके 'पुंल्लिङ्ग' ही होगा । इसी प्रकार 'प्राप्तो जीवकां प्राप्तजीवक:, आपन्नो जीनकामापन्नजीवक:' आदि में भी समास को 'स्त्रीलिङ्ग' नहीं हुआ । यहाँ पर 'प्राप्तापन्न च द्वितीयया'[2] से समास होगा । इसी प्रकार 'अलं कुमार्यै अलंकुमारि:' यहाँ पर 'अलं' पूर्वक समास में भी 'परवल्लिङ्ग' के द्वारा 'परकुमारी' शब्द के 'स्त्रीलिङ्ग' में विद्यमान होने पर समास को 'पुल्लिङ्ग' हो गया है । इस ज्ञापन से ही यहाँ पर समास होता है । इसी प्रकार 'निष्कौशाम्बी' इत्यादि में भी 'गति' समास होने पर भी 'परवल्लिङ्ग' का निषेध हो जाने पर 'कौशाम्ब्यादि' शब्दों के 'स्त्रीलिङ्ग' में विद्यमान होने पर भी समास में 'यथायथं पुंस्त्वादिक' ही हुए हैं । यहाँ पर गति समास से 'कुगतिप्रादय:'[3] से विहित 'प्रादि' समास को जाननां चाहिए ।

यद्यपि भाष्योक्त वार्त्तिक में द्विगु ग्रहण नहीं है । तथापि 'परवल्लिङ्गं' इस सूत्रस्थ वृत्ति के अनुरोध से 'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते'[4] इति

---

1. अष्टाध्यायी 4/2/16.
2. वही, 2/2/4.
3. वही, 2/2/18.
4. वही, 1/2/44.

सूत्रस्थ कैयट के अनुरोध से 'द्विगुप्राप्तापन्ने' इत्यादि वार्त्तिक का आकार वरद राज जी ने पढ़ा है वस्तुतस्थु 'द्विगुग्रहण' व्यर्थ ही है । जैसे - अर्धपिप्पली इत्यादि में 'पूर्वपद' प्रयुक्त लिङ्ग के बाधनार्थ ही 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयो:' इस सूत्र का आरम्भ किया है । यहाँ पर 'शब्द सम्बन्धि शब्द होने से पूर्वपद प्रयुक्त लिङ्ग को ही 'परवत्' इस युक्ति से निष्पन्न करता है । 'परवत्' ही होगा न कि 'पूर्ववत्' । तत्पुरुष के 'बहिर्भूततद्धितार्थप्रयुक्तलिङ्ग' के बाधन में 'परवल्लिङ्ग' का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वह तत्पुरुष के घटक पूर्वपदप्रयुक्त लिङ्ग के बाधने में चरितार्थ हो गया है । इस प्रकार 'प चकपाल: पुरोडाश' इत्यादि में 'तद्धितार्थ' के प्राधान्य होने से 'पुंस्त्व' अनायास ही सिद्ध हो गया 'तदर्थ' द्विगु में 'परवल्लिङ्ग' प्रतिषेध आवश्यक नहीं है । अतएव भाष्य में उक्त वार्तिक में द्विगुग्रहण नहीं है । यह उद्योत में स्पष्ट है ।[1]

यहाँ विशेष यह है कि 'अर्धपिप्पली' इत्यादि एक देशि समास में पूर्व पदार्थ के प्रधान होने से पूर्वपदप्रयुक्त लिङ्ग अनायास प्राप्त हो जाता है और 'परवल्लिङ्ग' इष्ट है । इसलिए 'परवल्लिङ्ग द्वन्द्वतत्पुरुषयो:' सूत्र में तत्पुरुष का ग्रहण किया गया है । 'एकदेशि' समास में ही 'तत्पुरुषग्रहणं' प्रयोजक है । तत्पुरुष का ग्रहण करने पर 'प्राप्तजीवक:' इत्यादि में भी 'परवल्लिङ्गं' प्राप्त होता है । वहाँ पर 'परवल्लिङ्ग' इष्ट है अत: 'तदर्थ' वार्त्तिक की रचना

---

1. वस्तुतो द्विगुग्रहणं परवदित्यस्यान्तरङ्गत्वेन तत्पुरुषशब्दमात्रेनिमित्तकलिङ्ग बाधकतया एव युक्तत्वात् व्यर्थमिति बोध्यम् - उद्योत 9/2/44.

की गयी है लेकिन भाष्यकार ने 'एकदेशिसमास' के विषय में सर्वत्र कर्मधारय का आश्रय लेकर 'अनायासेन परवल्लिङ्ग' की सिद्धि करके 'परवल्लिङ्ग द्वन्द्वतत्पुरुषयो:' में तत्पुरुष ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है । 'अर्धपिप्पली' इत्यादिकों में सर्वत्र 'अर्ध च तत् पिप्पली चेति' कर्मधारय ही है न कि 'पिप्पल्या अर्धं' यह एकदेशि समास है । कर्मधारय में 'उत्तरपदार्थ, प्रधान' होने से अनायास ही 'अर्धपिप्पली' इत्यादि में 'एकदेशिसमास हो जायगा । इस प्रकार के विषय में 'कर्मधारयैकदेशि' और 'एकदेशी' (अवयवावयवि) में अभेद का आरोप हो जाता है और भी 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे'[1] 'अर्धं नपुंसकम्'[2] 'द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम्'[3] इत्यादि एकदेशि समासविधायक तीनों सूत्रों की रचना नहीं करनी चाहिए । 'तद्विषय में उक्त रीति से कर्मधारय ही इष्ट है । इस प्रकार 'परवल्लिङ्गम्' इस सूत्र में तत्पुरुष ग्रहण का प्रत्याख्यान हो जाने पर प्राप्तजीवक इत्यादि उक्त वार्त्तिक के उदाहरण में 'परवल्लिंङ्ग' की अतिव्याप्ति का अभाव होने से 'तत्परिहारार्थं' यह उक्त वार्त्तिक भी नहीं करना चाहिए । प्राप्तजीवक:, निष्कौशाम्बी इत्यादि में 'पूर्वपदार्थ' की प्रधानता होने से अनायासेन पूर्वपदप्रयुक्त लिङ्ग' हो जायगा । इस प्रकार उक्त सूत्र में तत्पुरुषग्रहण का प्रत्याख्यान हो जाने पर उसकी 'अतिव्याप्ति' के 'परिहारार्थ आरभ्यमाण' उक्त वार्त्तिक भी 'अनायासेन' प्रत्याख्यात हो जायगा । यह सब 'परवल्लिङ्गं' द्वन्द्वतत्पुरुषयो:' के भाष्य में और प्रदीपोद्योत में स्पष्ट है ।

---

1. अष्टाध्यायी 2/2/1.
2. वही, 2/2/2.
3. वही, 2/2/3.

पदों का एवं विना उत्तरपद के लोप के ही 'प्रपर्ण' इत्यादि की सिद्धि हो गयी । और जब 'प्रपतितादि' शब्दों के द्वारा ही वह अर्थ कहा जाय तो 'प्रपतितादि' पदों का ही समास होगा । इस प्रकार 'प्रपतितपर्णः' इत्यादि भी होता ही है ।

नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तर पद लोपः[1]

'अनेकमन्यपदार्थे' सूत्र भाष्य पर 'नञोऽस्त्यर्थाना च'[2] यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । यहाँ सप्तम्युपमान इत्यादि वार्त्तिक से अथवा 'प्रादिभ्यः' इस वार्त्तिक से 'उत्तरपद लोपश्च' का अनुवर्तन करते हैं । इसी आशय को दृष्टिगत करते हुए वरदराज द्वारा वार्त्तिक का उपर्युक्त आकार पढ़ा गया है । वार्त्तिक का अर्थ है - 'नञ्' से परे 'अस्त्यर्थ' वाचक पद के तदना का अन्य पद के साथ समास तथा उत्तरपद अर्थात् विद्यमानार्थक पद का लोप होता है । यहाँ पर भी बहुव्रीहि समास अनेकमन्यपदार्थे' से ही सिद्ध है परन्तु उत्तरपद लोप के लिए वार्त्तिक का अवतरण किया गया है । 'अविद्यमान पुत्रो स्य' (जिसका पुत्र न हो) अपुत्र इत्यादि उदाहरण हैं । यहाँ 'नञ्' में परे 'अस्त्यर्थ' वाचक विद्यमान शब्द का विकल्प से लोप होता है, लोप पक्ष में 'अविद्यमान पुत्रः' ये दो शब्द स्वरूप निष्पन्न होते हैं । यह वार्त्तिक भी पूर्व वार्त्तिक के समान न्यायसिद्ध है । ऐसा पद मंजरीकार का भी अभिमत है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, बहुव्रीहि समास प्रकरणम्, पृष्ठ 866.
2. अष्टाध्यायी 2/2/24.

सप्तम् प्रकरणम्

तद्धित प्रकरणम्

स्वतिभ्यामेव च[1]

'न पुन्जनात्' सूत्र के भाष्य में महर्षि पत जलि ने 'स्वतिभ्यामेव' इस वार्त्तिक का प्रदर्शन किया है । इसका तात्पर्य यह है कि 'पुजनार्थक' शब्दों में 'सु' तथा 'अति' यह दो ही शब्द लिये जायें, जिससे 'शोभनश्चासौ राजा सुराजा' तथा 'अतिशयतिश्चासौ राजा च अतिराजा' इन स्थलों में राजा दस् 'सखिभ्यश्च टच्' सूत्र से प्राप्त समासान्त टच्' का निषेध हो गया तथा 'परमश्चासौ राजा परमराज' यहाँ पर 'टच्' का निषेध नहीं हुआ । यह निषेध बहुव्रीहौ 'सान्ययक्ष्णोः स्वाङे.सूत्र से पूर्वभूती जो समासान्त प्रत्यय विधायक सूत्र है उन्हीं का निषेध करता है इसलिये 'सु' सक्थः, 'स्वक्षः' इन प्रयोगों में 'षच्' प्रत्यय का निषेध नहीं हुआ । क्योंकि 'प्रागबहुव्रीहिरिति वक्तव्यम्' इस भाष्य वचन के आधार पर निषेध व्यवस्था की है ।

देवाद्यञञौ[2]

'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः[3]' सूत्र में भाष्यकार ने 'देववस्यय यौ' इस वार्त्तिक का उल्लेख किया है । सिद्धान्त कौमुदी में देवात् यह 'पञ्चम्यन्त'

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम्, पृष्ठ 884.
2. वही, अपत्याधिकार प्रकरणम्, पृष्ठ 888.
3. अष्टाध्यायी 4/1/85.

देवात्' ही पाठ है । 'देव' शब्द से 'तत्तत्समर्थ विभक्त्यन्त' से 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में 'यञ्-अञ्- प्रत्यय इस वार्त्तिक से किए जाते हैं । 'यञ्' प्रत्यय होने पर 'दैव्यम्', अय' प्रत्यय होने पर 'दैवम्' इन दोनों शब्दों की निष्पत्ति होती है।

बहिषष्टिलोपो यञ्च[1]

'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः'[2] सूत्र पर एवं भाष्य पर यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'बहिष्' शब्द से 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय तथा इसी वार्त्तिक से 'टि' लोप का भी विधान किया गया है । जैसे -बहिर्भवम् , ब्राह्यम् । 'यञ्' प्रत्यय में ' कारे इत्संज्ञा' होने से' 'ञित्वादव्' आदि वृद्धि हुई है । 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इस सिद्धान्त से ही 'टि' लोप सिद्ध था, परन्तु पुनः वार्त्तिक से 'टि' लोप विधान अव्ययों के 'टि' लोप का 'अनित्यत्व' ज्ञापन के लिए किया गया है अतः 'आरातीयः' इस प्रयोग में 'आराद्' शब्द के 'अव्ययत्व' होने पर भी 'अनित्यत्वात्' 'टि' लोप नहीं हुआ, इसे प्रदीपकार ने भी स्पष्ट किया है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकार, प्रकरणम्, पृष्ठ 888.

2. अष्टाध्यायी 4/1/85.

ईकक् च[1]

'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः '[2] सूत्र में भाष्यकार ने उपर्युक्त वार्त्तिक के पश्चात् इस वार्त्तिक का उल्लेख किया है । अतः पूर्व वार्त्तिक से 'बहिषष्टि लोपः' इसका सम्बन्ध इस वार्त्तिक में भी आता है । 'बहिष्' शब्द से 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में 'ईकक्' प्रत्यय तथा 'बहिष्' प्रकृति का 'टि' लोप भी होता है । जैसे - बहिर्भवः, वाहीकः ।

सर्वत्र गोः (र) अच् (ज) आदि प्रसङ्गे यत्[3]

उपर्युक्त[4] सूत्र पर भाष्यकार ने 'सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यत्' वार्त्तिक का उल्लेख किया है । गो शब्द 'आजादि' प्रत्ययों के प्रसङ्ग में 'अपत्य' तथा 'धनपत्य प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में सर्वत्र 'यत्' प्रत्यय का विधान इस वार्त्तिक से किया गया है । अतः 'गवि भवं' इस अर्थ में 'तत्रभवः '[5] से 'अण्' का प्रसङ्ग होने पर भी इस वार्त्तिक से 'यत्' प्रत्यय होकर 'गव्यम्' इस रूप की निष्पत्ति होती है । इसी प्रकार 'गोरिदम, गौर्देवतास्य' इत्यादि विग्रह में सर्वत्र

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकार प्रकरणम्, पृष्ठ 888.
2. अष्टाध्यायी 4/1/85.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकार प्रकरणम्, पृष्ठ 889.
4. अष्टाध्यायी, 4/1/85.
5. वही, 4/3/53.

'अणादि' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर प्रकृत वार्त्तिक से 'यत्' प्रत्यय होगा। वार्त्तिक में सर्वत्र ग्रहण पूर्वोक्त वार्त्तिक के 'अपत्य' की निवृत्ति के लिए हैं इस प्रकार सर्वत्र पाठ से 'अपत्यार्थ' में ही 'यत्' का निषेध ही नहीं, प्रत्युत सभी 'प्राग्दीव्यतीयार्थों' में 'यत्' का विधान किया गया है अथवा सर्वत्र ग्रहण से यह भी आशय लगाया जाता है कि 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थ में 'यत्' नहीं होता है अथवा 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में ही नहीं प्रत्युत सर्वत्र अर्थों में 'गो' शब्द से 'अणादि' प्रसङ्ग रहने पर 'यत्' प्रत्यय सर्वत्र पाठ से ग्राह्य है। अतः 'गवा चरति गव्यः' इस रूप में 'चरति' आदि अर्थों में भी इसी वार्त्तिक से 'यत्' का विधान किया गया है। वस्तुतः 'प्राग्दीव्यतीय' में इसका पाठ होने से 'प्राग्दीव्यतीय' सभी अर्थों का ग्रहण सिद्ध है अतः सर्वत्र कथन अनुपयुक्त है। 'एतावता' सर्वत्र कथन से 'अप्राग्दीव्यतीयार्थों' का भी ग्रहण किया गया है। उक्त कथन का प्रदीपोद्योतकार भी समर्थन करते हैं। दीक्षितजी एवं वरदराज जी ने इस वार्त्तिक का उल्लेख करते समय सर्वत्र का उल्लेख नहीं किया है अतः उनके मत में इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति केवल प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ही होती है। कौमुदीकार को आद्य पक्ष ही अभीष्ट है।

लोम्नो पत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः[1]

उक्त[2] सूत्र में भाष्यकार ने 'लोम्नो पत्येषु बहुषु' इस वार्त्तिक का उल्लेख किया है । इस वार्त्तिक में पूर्ववार्त्तिक से अकार का अनुवर्तन किया जाता है इसी आशय से वरदराज ने वार्त्तिक में 'अकार' का 'प्रश्लेष' किया है 'लोमन् शब्दान्त प्रातिपदिक' प्रकृति से बहुत्व विशिष्ट 'अपत्यार्थ' में 'अकार' प्रत्यय होता है । 'लोमन्' का 'अपत्य' से योग असम्भव होने तथा 'उडलोमः' इस भाष्य उदाहरण से प्रत्यय विधान में भी 'तदन्त' विधि होती है यह उद्योतकार[3] का अभिमत है । 'बाह्वादिगण' में 'लोमन्' शब्द का पाठ होने से 'बाह्वादिभ्यश्च'[4] इ् ' प्रत्यय प्राप्त होने पर इस वार्त्तिक से 'अकार' विधान किया जाता है । 'उडलोमाः' शब्दरूप निष्पन्न होता है । 'एकत्व' विवक्षा में 'बाह्वादिभ्यश्च' से 'इ्' प्रत्यय होने पर 'औडुल्लोमिः' रूप बनेगा, यतः 'अकार' प्रत्यय बहुवचन में ही होता है । वार्त्तिक में 'बहुषु' पाठ स्पष्ट निर्दिष्ट है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकार प्रकरणम् , पृष्ठ 895.

2. अष्टाध्यायी 4/1/85.

3. अत्रलोम्नो पत्येन योगविभागाभावात् सामर्थ्यात्तदन्त विधिः ।
   – उद्योत 4/1/85.

4. अष्टाध्यायी 4/1/96.

इस सन्दर्भ में कुछ लोगों का अभिमत है कि 'इ_' प्रत्यय होने पर भी उसका 'बहवच इ : प्राच्य भरतेषु'[1] इसे लोप होकर प्रत्यय लक्षण से 'स्वादिष्व-सर्वनामस्थाने'[2] सूत्र से 'उडलोमन्' का 'पदत्वान्नलोप करके 'जस्' प्रत्यय के साथ पूर्व 'सवर्ण दीर्घ' करके 'उडलोमा:' की सिद्धि हो जाएगी अत: 'अकार' प्रत्यय प्रकृत वार्त्तिक से नहीं करना चाहिए। उक्त विचार के निराकरण के सम्बन्ध में 'प्राच्यभरतगोत्र' से 'उडलोमन्' शब्द भिन्न है अत: उक्त सूत्र से 'लुक्' नहीं होगा तथाउडलोमै:, उडलोमेभ्य: इत्यादि स्थलों में न लोप का सुप् विधि की कर्तव्यता में 'असिद्धत्व' होने पर 'ऐस् एत्वादि' कार्य 'राजभि:' राजभ्य:' के सदृश नहीं हो सकेंगे। 'यन्निमित्तक' न लोप है तंन्निमित्तक सुप्' विधि में ही उसका 'असिद्धत्व भी है। वर्तमान 'उडलोमन' शब्द में प्रत्ययलक्षण से 'इ_' निमित्तक न लोप है न कि 'भिसादि निमित्तक 'सुप्' विधि भी 'इ_' निमित्तक नहीं है। अत: तत्तत्कार्य कर्त्तव्यता' में न लोप के 'असिद्धत्व' का अभाव होने से 'ऐस्'एत्वादि' साधन सुनकर भी 'न लुमताङ्स्य' से प्रत्यय लक्षण निषेध से 'इ_' प्रत्यय को आश्रय मानकर 'स्वादिषु' 'पदत्व' ही नहीं होगा। अत: 'उडलोमा:' इस रूप की असिद्धि बनी रहेगी। यद्यपि 'अन्तर्वर्तिनी' विभक्ति के द्वारा 'सुप्तिडन्तंपदम्'[3] सूत्र से 'उडलोमन्' को 'पदत्व मानकर''म'

---

1. अष्टाध्यायी, 2/4/66
2. वही, 1/4/17.
3. वही, 1/4/4.

लोप कर सकते हैं । तथापि 'प्राच्य भरत गोत्र' से 'अन्यत्र लुक्' की प्रवृत्ति न होने से 'इ्' प्रत्यय का लोप होना दुष्कर है । अत: 'उडलोमा:' इत्यादि रूप निष्पत्ति के लिए 'अकार' प्रत्यय का विधान आवश्यक है । प्रदीपोद्योत-कार भी इस पक्ष से सहमत हैं ।

राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्[1]

'राजश्वशुराद्यत्'[2] इस सूत्र व्याख्यान में भाष्यकार ने 'राज्ञा पत्ये जाति ग्रहणम्' वार्त्तिक का उल्लेख किया है । 'जाति वाच्य' होने पर ही 'राजन्' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होता है । अत: 'राज्ञो पत्यं जाति:' इस विग्रह में 'राजन्य:' रूप निष्पन्न होता है । यहाँ प्रकृति प्रत्यय समुदाय से क्षत्रिय जाति वाच्य होने पर 'राजन्' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है । प्रकृति प्रत्यय समुदाय से ही उस स्थल में क्षत्रिय जाति कही गई है । परन्तु प्रत्यय 'अपत्य' अर्थ में ही है । अत: प्रत्यय से 'अपत्य' ही 'गम्यमान' होगा । उपर्युक्त विवरण तत्त्वबोधिनी में स्पष्ट है । यदि 'राजन्' शब्द से 'अपत्यं मात्र' विवक्षित है न कि क्षत्रिय जाति तो 'अण्' प्रत्यय होकर 'राजन:' रूप बनेगा इस सन्दर्भ में कैयट ने भी कहा है - यदि प्रकृति प्रत्यय समुदाय से जाति का भान हो तो प्रत्यय होता है अन्यथा नहीं । अत: क्षत्रिय जाति का

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकार प्रकरणम्, पृष्ठ 899.
2. अष्टाध्यायी 4/1/137.

प्रतिपादन करने की इच्छा हो तो 'राजन्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है वैश्य या शूद्र 'राजापत्य' का भान कराना हो तो 'राजन्' शब्द का प्रयोग होता है ।

क्षत्रिय-समान-शब्दाद्-जनपदात्-तस्य राजनि अपत्यवत् [1]

'जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्'[2] इस सूत्र की व्याख्या में उक्त वार्त्तिक का उल्लेख भाषा में किया गया है । इसका अर्थ है - 'क्षत्रिय' वाचक शब्द समान 'जनपद वाचक' शब्द से 'राजा' अर्थ में 'अपत्य' के सदृश प्रत्यय होता है । यहाँ 'क्षत्रिय वाची' शब्द 'उपचार' से 'क्षत्रिय' तथा 'जनपदवाची' शब्द 'जनपद' कहा गया है ।[3] जो शब्द 'क्षत्रिय' का अभिधायक होते हुए जनपद को भी अभिव्यक्त करता है उस 'षष्ठी समर्थ' शब्द से 'राजन्' अर्थ में 'अपत्य' सदृश प्रत्यय होता है । इस प्रकार के शब्द से 'अपत्य' अर्थ में जो प्रत्यय वही राजा अर्थ में भी होता है । इस प्रकार 'पञ्चालस्यापत्यम्' इस अर्थ में जैसे - पञ्चाल शब्द से 'जनपद शब्दात् क्षत्त्रियादञ्' इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय होता है । उसी प्रकार 'पाञ्चालानां राजा' इसमें भी 'पञ्चाल' से अञ् प्रत्यय होने पर 'पञ्चाल' रूप निष्पन्न होता है । 'जनपद शब्दात्' इस सूत्र से 'अपत्य' अर्थ में 'अञ्' विधान

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकार प्रकरणम्, पृष्ठ 901.
2. अष्टाध्यायी 4/1/168.
3. क्षत्रिय वचन एव शब्द उपचारेण क्षत्रिय इत्युक्तः । जनपद शब्दो जनपद इति
   - न्यास 4/1/168.

से 'राजा' अर्थ में अप्राप्त प्रत्यय राजा अर्थ में भी इसलिए इस वार्त्तिक का उपस्थापन किया गया है । दीक्षितजी[1] ने 'तद्राज' इस 'अन्वर्थ संज्ञा' के बल से ही 'राजन्' में भी अपत्य के तुल्य प्रत्यय का विधान मानकर इस वचन को न्याय सिद्ध स्वीकार किया है किन्तु भाष्य वृत्यादि ग्रन्थों में इस वार्त्तिक को 'अन्वर्थ' संज्ञा के माध्यम से 'अन्यथासिद्ध' नहीं माना गया है और न तो प्रदीप पदमजरी टीकाओं में भी 'अन्वर्थ' संज्ञा से इसका लाभ प्रदर्शित किया गया है।

पूरोरण वक्तव्य:[2]

उपर्युक्त[3] सूत्र के भाष्यकार ने इस वार्त्तिक का उल्लेख किया है । 'पुरु' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय कहना चाहिए । 'पुरु' का अपत्य इस अर्थ में उक्त वार्त्तिक से 'अण्' प्रत्यय करके 'पौरव' निष्पन्न किया जाता है । 'तस्यापत्यम्' सूत्र से 'औत्सर्गिक अण्' सिद्ध है इस वार्त्तिक का 'उन्यास-तद्राज' संज्ञा के लिए किया गया है । 'अथ च औत्सर्गिक अण्' से 'जनपद शब्दात्क्षत्त्रियादञ्' सूत्र से 'अञादि' प्रत्ययों को उद्देश्य करके विधीयमान

---

1. क्षत्रिय समान शब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत् । तद्राजमाच् क्षाणासा-द्राज इत्यन्वर्थ संज्ञा सामर्थ्यात् पाञ्चालानां राजा पाञ्चाल: इति ।

   - लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकरणम् प्रकरणम्

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकरणम् प्रकरणम्, पृष्ठ 901.

3. अष्टाध्यायी 4/1/168.

'ते तद्राजा:' सूत्र से 'तद्राज' संज्ञा नहीं प्राप्त होगी, इस वचन के 'उपस्थापन' से विधीयमान 'अण् अञादि' के अन्तर्गत होने से 'तद्राज' संज्ञा सिद्ध है । 'तद्राज' संज्ञा का फल 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' सूत्र से बहुवचन में प्रत्यय का लोप है । यह भाव प्रदीप टीका में स्पष्ट है । 'पुरु' शब्द 'जनपदवाची' नहीं है प्रत्युत् 'क्षत्रियवाची' है नहीं तो 'तद्जमगध कलिङ्ग सूरयसादण' इससे सिद्ध होने पर यह वार्त्तिक व्यर्थ हो जाता है ।

पाण्डोर्ड्यण[1]

उक्त सूत्र[2] पर भाष्यकार ने 'पाण्डोर्ड्यण्' वार्त्तिक का उपन्यास किया है । 'पाण्डु' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में 'ड्यण्' प्रत्यय होता है । 'पाण्डोरपत्यं पाण्ड्य: डित्व' होने के कारण 'टिलोप' हो जाता है । 'ड्यण्' प्रत्यय में 'णित्' पाठ 'पाण्ड्य आर्य:' इत्यादि स्थलों में 'वृद्धि निमित्तस्य च तद्धितस्यारक्ताविकारे'[3] सूत्र से वृद्धि निषेध के लिए है । यह 'ड्यण्' प्रत्यय जनपद समान शब्द 'क्षत्रिय' विशेष वाची 'पाण्डु' शब्द से होता है । संज्ञा भूत 'युधिष्ठिरादि पितृवाची' या 'पाण्डुत्व गुण निमित्तक' जो 'पाण्डु' शब्द है उससे 'अण्' न होकर 'औत्सर्गिक अण्' ही होने पर पाण्डोरपत्यं

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकरणम् प्रकरणम् , पृष्ठ 902.
2. अष्टाध्यायी 1/4/68.
3. वही, 6/2/39.

पाण्डरूप बनता है । इसीलिए वृत्तिकार ने 'पाण्डोर्जनपद शब्दात् क्षत्रियाड्ड्यण वक्तव्य:' इस प्रकार का वार्त्तिक स्वरूप निर्दिष्ट किया है । इस सन्दर्भ में प्रदीप[1] और उद्योतकार[2] का भी अभिमत पूर्ववत् है ।

कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्[3]

'कम्बोजाल्लुक्'[4] इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'कम्बोजादिभ्यो-लुगवचनं चोडाद्यर्थम्' वार्त्तिक का उल्लेख किया है । इस वार्त्तिक का पाठ इसलिए किया गया है कि 'कम्बोज' शब्द से 'तद्राज' प्रत्यय का लोप तो हो जाएगा परन्तु 'चोडादि' शब्दों के साथ प्रत्यय होने पर 'तद्राज' संज्ञा न होने से लोप नहीं होगा । उक्त सूत्र का उल्लेख करके प्रकृत वार्त्तिक का निर्देश किया गया है । अत: चोड:, चोल:, शक: इत्यादि स्थलों में 'द्वय मगधकलिङ्गसूरम-सादण्'[5] इस सूत्र से विहित 'द्वयज्' लक्षण 'अण्' का लोप होता है । केरल: में

---

1. वाहवादिप्रभृतिषु येषां दर्शनं जौमिके गोत्रभाव इति वचनात् युधिष्ठिरादिषितु: पाण्डोरग्रहणात् तदार्चिन: पाण्डव इत्येव भवति भवति । प्रदीप 4/1/168.
2. संज्ञा शत्बत्त्वेन जनपद स्वामित्वेन तत्समान तत्समान शब्द क्षत्रिय जाति विशेष वाचि पाण्डुशब्दापे क्षया अस्य पाण्डुत्व गुण योग निमित्तकत्वेनाप्रसिद्ध त्वा-दिति भाव: । - उद्योत 4/1/168.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, अपत्याधिकरणम् प्रकरणम् , पृष्ठ 904.
4. अष्टाध्यायी 4/1/175.
5. वही, 4/1/170.

'जनपद शब्दात् क्षत्रियाद.' से 'अञ्' होने पर लोप होता है । 'तद्राजस्य बहुषु तेनै वास्त्रियाम्' इस सूत्र से 'बहुत्व' विवक्षा में लोप सिद्ध है तथापि द्विवचन, एकवचन में लोप विधान के लिए उक्त और वार्त्तिक की परमावश्यकता है इसी को दृष्टि में रखकर भाष्यकार ने एकवचनान्त चोलः, शमः, यवनः, केरलः, उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

तिष्य पुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वक्तव्या[1]

'सूर्यतिष्यागस्त्य'[2] सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पठित है । 'नक्षत्र' सम्बन्धी 'अण्' प्रत्यय परे रहते ही 'तिष्य पुष्य' के 'यकार' का लोप होता है अन्यत्र नहीं यह इसका अर्थ है । तिष्य में 'सूर्यतिष्य' इस सूत्र से 'यलोप' प्राप्त होने पर 'अण्' परे ही लोप हो ऐसा नियम करने के लिए वार्त्तिक है ।

'पुष्य' में 'यलोप' प्राप्त नहीं होने से 'अण्' परे रहते अपूर्व लोप का विधान करता है । यहाँ 'नक्षत्राण' हे नक्षत्र । वाचक से विहित जो 'अण्' उन सबका ग्रहण होता है । न कि 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्'[3] इस सूत्र से 'प्रातिपदिकोव नक्षत्र' का हो । इसीलिए 'नक्षत्राणि' का व्याख्यान 'नक्षत्र सम्बन्धि अण् परे'

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री०प्र०प्र०, पृष्ठ 906.

2. अष्टाध्यायी, 6/4/149.

3. वही, 4/3/16.

ऐसा व्याख्यान कैयट ने किया है । प्रदीपोद्योत में यह स्पष्ट है । इसका उदाहरण - तैषम् , पौष: यह भाष्य में कहा गया है । तैषम् - तिष्येण युक्त मह:, अर्थात् 'तिष्य' से युक्त 'दिन' इस अर्थ में 'नक्षत्रेण युक्त: काल:' इस सूत्र से 'तिष्य' शब्द से 'अण्' इस पूर्वोक्त वार्त्तिक से 'यलोप' 'यस्येति च' से 'अलोप' । 'पौष:' यहाँ पर पुष्येभव:' इस अर्थ में [पुष्य में होने वाला] 'पुष्य' शब्द से 'अण्' इससे 'यलोप' तथा 'यस्येति' से 'अलोप' ।

भस्याढे तद्धिते[1]

'तसिलादिष्वाकृत्वसुच:' सूत्र पर वचन रूप पठित यह वार्त्तिक वचन रूप से पठित है । तथा इसका अर्थ है - ढादि लिल तद्धित की विषयता पर स्त्री-वाचक, भाषित पुंस्त्व 'भसंज्ञक' शब्द को 'पुंवद्भाव' हो, इससे 'हस्तिनीनां समूह:' इस विग्रह में 'हस्तिनी' शब्द से समूह अर्थ में 'अचित्तहस्ति धेनोष्ठक्' इस सूत्र से 'ढक्' प्रत्यय की विवक्षा में 'हस्तिनी' शब्द को 'पुंवद्भाव' होकर 'हस्तिन' रूप से 'ढक्' प्रत्यय हुआ । पुन: 'ठस्येक:' सूत्र से इकादेश तथा 'न तद्धिते' सूत्र से 'टिलोप' एवं 'तद्धितेष्वचामादे किति च' सूत्र से आदि वृद्धि होकर 'हास्तिक' यह उदाहरण सम्पन्न हुआ । इसमें 'अढे' इस अंश का व्यावर्त्य रौहिणेय:' प्रयोग दिया गया है । इसमें 'स्त्रीभ्योढक' सूत्र से 'ढक्' प्रत्यय होकर 'यस्येति च' सूत्र से 'इकार' का लोप होकर आदि वृद्धि के द्वारा 'रौहिणेय:' प्रयोग

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री०प्र०प्र०, पृष्ठ 912.

निष्पन्न होता है। यदि यहाँ पर 'पुंगवद्भाव' हो तो 'रोहिणी' शब्द का स्वरूप रोहित हो जाता है। 'ढक्' प्रत्यय 'सामभिव्यवहार' से 'रौहतेय:' यह रूप हो जाता है क्योंकि रोहित वर्ण विशिष्टा 'स्त्री रोहिणी रोहिता' यह रूप 'वर्णादिनुदात्तात्तोपधात्रोन:' सूत्र से 'रोहिणी रोहिता' यह रूप होता है। इस वार्त्तिक में 'स्त्रीभ्योढक्' सूत्र से विहित 'ढक्' प्रत्यय ही ग्रहीत होता है। इसमें प्रत्यासक्ति न्याय मूल' समझना चाहिए तथा तत्त्वबोधिनीकार ने इसे व्याख्याकर सिद्ध किया है। इसका फल यह है कि 'अग्नेर्ढक्' से विहित 'ढक्' प्रत्यय नहीं ग्रहीत हुआ इसलिए 'अग्नयी देवता अस्य स्थालि पादस्य' इस विग्रह में 'अग्नायी' को 'पुंग्वद्भाव' होकर 'आग्नेय: प्रयोग' सिद्ध हो गया अन्यथा 'यस्येति च' से 'इकार' का लोप होकर 'आग्नायेय' हो जाता है। इस प्रकार भाष्य, प्रदीप, उद्योत, तत्त्वबोधिनी प्रभृति ग्रन्थों की दृष्टि से व्याख्यान सम्पन्न हुआ।

गजसहाय्यां चेति वक्तव्यम्[1]

'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'[2] सूत्र भाष्य व्याख्यान में उक्त वार्त्तिक का उल्लेख है। गज, सहाय शब्दों से 'समूह' अर्थ में 'तल्' प्रत्यय होता है।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम्, पृष्ठ 914.
2. अष्टाध्यायी, 4/2/43.

'तलन्तंस्त्रियाम्' इस नियम से 'तलन्त प्रत्ययान्त' शब्दों का 'स्त्रीलिङ्ग' में ही प्रयोग किया जाता है अत: 'गजानां समूह: सप्तयानां समूह:' इस विग्रह में उक्त वार्त्तिक से 'तल्' प्रत्यय करके 'स्त्रीलिङ्ग शब्दस्य' गजता, सहायता निष्पन्न होते हैं।

अह्न: ख: क्रतौ[1]

उपर्युक्त[2] सूत्र की व्याख्या में ही भाष्यकार में 'अह्न: ख: क्रतौ' इन दो वार्त्तिकों का उपस्थापन किया है। पूर्ववार्त्तिक की अतिप्रसक्ति वारण हेतु उत्तर वार्त्तिक का पाठ किया गया है। इन दोनों वार्त्तिकों का एक रूपात्मक व्याख्यान सिद्धान्त कौमुदी में दीक्षितजी द्वारा किया गया है। 'अहन्' शब्द से समूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है। यदि 'यज्ञ वाच्य' हो, 'एतावता क्रतु (यज्ञ) वाच्य अहन्' शब्द से 'ख' प्रत्यय हो। यह वार्त्तिक का स्पष्ट अर्थ हुआ। अह्नां समूह: इस विग्रह में उक्त वार्त्तिक से 'ख' प्रत्यय होकर 'ख' को 'इनादेश' 'अह्निष्टखोरेव'[3] सूत्र से टिलोप होने पर अहीन: क्रतु: रूप की निष्पत्ति होती है क्रतु से अन्यत्र आहन् बनता है। अतएव भाष्यकार ने कहा है कि 'क्रताविति वक्तव्यम्' यहाँ पर न हो 'आह्नायधूतपाप्मानोभास्कराजित

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम्, पृष्ठ 914.
2. अष्टाध्यायी 4/2/43.
3. वही, 6/4/145.

मृत्यव:' यहाँ अहन शब्द से 'खण्डिकादिभ्यश्च' से 'अम्' प्रत्यय हुआ है । 'अह-नष्टखोरेव' इसकी प्रवृत्ति न होने से 'टिलोप भाव' अल्लोपोऽन:'[1] से 'अलोप' होकर उक्त रूप बनता है ।

अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्[2]

'राष्ट्रावारपाराद्खौ'[3] इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'अवारपाराद्विगृहीतादपि' तथा 'विपरीताच्च' इन दो वार्त्तिकों का उल्लेख किया है । उपर्युक्त सूत्र से 'अवारपार' शब्द से 'शैषिक अर्थों' में 'ख' प्रत्यय होता है । वही प्रत्यय जिस प्रकार 'अवारपार' समुदाय से होता है उसी प्रकार विग्रहीत भिन्न प्रत्येक 'अवारशकपार' शब्द से हो, तथा विपरीत अर्थात् 'पारावार' शब्द से हो यह वार्त्तिक का व्यक्त अर्थ है । अत: 'अवारपारीण:' के समान 'अवारीण:, पारिण:, पारावरीण:' रूपों की निष्पत्ति वार्त्तिक निर्देश होती है । सूत्र से मात्र 'अवारपार' समुदाय से ही 'ख' होगा, प्रत्येक भिन्न व विपरीत से नहीं होगा ।

---

1. अष्टाध्यायी, 6/4/34.

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम् , पृष्ठ 923.

3. अष्टाध्यायी 4/2/93.

अमेहक्वतसियेभ्य एव[1]

'अव्ययात्यप्'[2] सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'अमेहक्वतासियेभ्यस्त्यात्त्विधिर्यो व्यपात्स्मृतः' इस श्लोक वार्त्तिक में परिगणन किया है। अव्यय से जो 'त्यप् विधि' की जाती है वह 'अमादि' 'परिगणित' शब्दों से ही की जाए। जैसे - अमा से अमात्यः, इह-इहत्यः, क्व - क्वत्यः, तसि - ततस्त्यः, त्र - तत्रत्यः इत्यादि शब्द रूपों की सिद्धि की जाती है। 'तसि - त्र' दोनों प्रत्यय हैं अतः 'प्रत्ययग्रहणेतदन्त ग्रहणं च परिभाषा' से यहाँ भी 'त्यप्' प्रत्यय हो जाएगा। 'तद्धितश्चासर्व विभक्तिः' सूत्र से 'इह' इत्यादि की अव्यय संज्ञा होती है। परिगणन वार्त्तिक के अनुसार 'औत्तराहः, औपारिष्टः पारतः' इत्यादि स्थलों में 'त्यप्' प्रत्यय नहीं होगा, यहाँ 'उत्तराद्धि भवः, उपरिष्यत् भवः, परतो भवः' इत्यादि स्थलों पर 'औत्सर्गिक अण्' होने पर 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से 'टि' लोप 'प' होगा। उत्तरादि, उपरिष्टात् परतस् इन सब की 'तद्धितश्चासर्व विभक्तिः'[3] से 'अव्ययत्व' सिद्ध है तथा परिगणन' के अन्तर्गत न होने से 'त्यप्' नहीं होगा। भाष्यकार ने कहा भी है - इतरथा ह्यौत्रराहोपरिष्ट पारतानां प्रतिषेधोवक्तव्यः स्यात्। इति।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 924.
2. अष्टाध्यायी 4/2/104.
3. वही, 1/1/38.

त्यब् ने ध्रुवे इति वक्तव्यम्[1]

'अव्ययात् त्यप्'[2] सूत्र में भाष्यकार ने 'त्यब्नेर्ध्रुव' इति वक्तव्यम्' वार्त्तिक का पाठ किया है । 'नि' शब्द से 'ध्रुव' अर्थ में 'त्यप्' प्रत्यय होता है यह वार्त्तिक का अर्थ है । 'नित्य:' यह उदाहरण है । नियतं - सर्वकाले भवं नित्यमिति । जो सभी कालों में हो उसे नित्य कहते हैं ।

वा नामधेयस्य वृद्ध संज्ञा वक्तव्या:[3]

'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्'[4] इस सूत्र व्याख्या में भाष्यकार ने इस वार्त्तिक का उल्लेख किया है । यहाँ 'नामधेयपद' से माता पिता से किया जाने वाला आधुनिक 'देवदत्तादि रूप नाम' का ग्रहण है । अत: 'एड. प्राचां देशे' इसकी चरितार्थता होती है । रूढ़ मात्र को यदि नामधेय पद से ग्रहण करें तो इसी वार्त्तिक से 'वृद्ध' संज्ञा हो जाती है 'एड. प्राचां देशे' सूत्र व्यर्थ हो जाता है । उक्त विवरण प्रदीप[5] उद्योत में स्पष्ट किया गया है । अत: देव-

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 926.
2. अष्टाध्यायी 4/2/104.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 927.
4. अष्टाध्यायी 1/1/73.
5. पौरूषेयं नाम गृह्यते । प्रदीप 1/1/73; आधुनिकमित्यर्थ अतएव 'एड. प्राच देशे' इति चरितार्थम् । रूढ़ मात्रस्यनाम्नो न ग्रहणं ग्रहणे तद्वै यर्थ्य स्पष्टमेव ।उद्योत । ।

दत्तादि नामधेयों की 'वृद्धि' संज्ञा करके 'वृद्धाच्छ:'[1] से 'छ' होकर 'देवदत्तीय: तथा विकल्प पक्ष में 'अण्' करके 'दैवदत्त:' दो रूपों की निष्पत्ति की जाती है।

अव्ययानां भ-मात्रे टि लोप:[2]

'नस्तद्धिते'[3] सूत्र व्याख्यान में भाष्यकार ने 'अव्ययानां च सायम्प्रातिकाद्यर्थम्' इस वार्त्तिक का उल्लेख किया है । 'भस्य' का अधिकार होने से अव्ययों की 'भ' संज्ञा होने पर 'टि' लोप होता है अत: सायम्प्रातिक:, पौनःपुनिक: इत्यादि स्थलों में 'टि' लोप सिद्ध है । उक्त उदाहरणों में 'कालाट्ठञ्'[4] से 'ठञ्' प्रत्यय होता है । वार्त्तिक में सायंप्रातिकाद्यर्थम् आदि शब्द प्रकार में है । अत: जहाँ भी 'टि' लोप दर्शन हो वे सायम्प्रातिकादि है वहीं पर 'टि' लोप इस वार्त्तिक से होता है । अत: 'आरातीय: इत्यादि स्थलों में अव्यय होने पर भी 'टि' लोप नहीं होता ।[5] लघु सिद्धान्त कौमुदीकार वरदराज जी

---

1. अष्टाध्यायी 4/2/1/114.
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 931.
3. अष्टाध्यायी 6/4/44.
4. वही, 4/3/11.
5. आदिशब्द: प्रकारेटिलोपदर्शनेन च सादृश्यमाश्रीयत इति, आरातीय: शाश्वतिम: इत्यत्र च टि लोपा भाव: । - प्रदीप 6/4/144.

ने 'बहिषष्टिलोपो य_च' इस वार्त्तिक से 'बहिषु' का 'टि' लोप विधान करके अव्ययों के 'टि' लोप का अनित्यत्व प्रतिपादन करते हुए 'आरातीय:' इत्यादिकों में 'टि' लोप नहीं ऐसा प्रतिपादन करते हैं ।[1]

अध्यात्मादेः 'ठ_' ईष्यते[2]

'अन्त: पूर्वपदाट्ठ_'[3] सूत्र व्याख्यान में भाष्यकार ने 'समानस्य तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्यते' इस श्लोक वार्त्तिक का उपस्थापन किया है । समान शब्द तथा समान हो आदि में जिसके ऐसे शब्दों से, अध्यात्मादि शब्दों से भव अर्थ में उक्त वार्त्तिक से 'ठ_' का विधान किया जाता है । समान शब्द से 'ठ_' प्रत्यय करने पर 'सामानिक:' तथा समान हो आदि में जिसके समान 'ग्रामिक:' अध्यात्मिक:' इत्यादि शब्द रूपों की निष्पत्ति होती है । 'आत्मनि इति आध्यात्मा' विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास तथा 'अनश्च'[4] सूत्र से समासान 'टच्' अनन्तर इस वार्त्तिक से 'ठ_' प्रत्यय, अध्यात्मादि आकृति गण है । वार्त्तिक में निर्दिष्ट सभी आकृतिगण है । उक्त वार्त्तिक एकादेश अनुवाद रूप वरदराज ने 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' लिखा है ।

---

1. अनित्यो यं बहिषष्टिलोप विधानात् तेनेह न आरातीय: - लघु सिद्धान्त कौमुदी ।

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 936.

3. अष्टाध्यायी, 4/3/60.

4. वही, 5/4/108.

अश्मनो विकारे टिलोप वक्तव्य:[1]

'नस्तद्धिते'[2] वार्त्तिक सूत्र भाष्य पर 'अश्मनो विकार उपसंख्यानम्' वार्त्तिक का पाठ है। 'अश्मन्' शब्द से 'विकार' अर्थ में जो प्रत्यय उसकी परता 'टि' लोप होता है। 'अश्मनो विकार: आश्म: तस्य विकार:'[3] से 'अण् तत:' इस वार्त्तिक से 'टि' लोप 'अन्' सूत्र से प्रकृतिभाव प्राप्त होने पर 'टि' लोप के लिए उक्त वार्त्तिक का पाठ किया गया है।

अधर्माच्चेति वक्तव्यम्[4]

'धर्मंचरति'[5] इस सूत्र भाष्य में 'अधर्माच्च' वार्त्तिक का पाठ है। 'अधर्म' शब्द से 'चरति' अर्थ में इस वार्त्तिक से 'ठ_' प्रत्यय का विधान किया जाता है। अधर्म चरति, आधार्मिक: 'येन विधि स्तदन्तस्य' इस 'तदन्त' विधि सूत्र से 'धर्म चरति' सूत्र में 'धर्म' शब्द से 'धर्मान्त' का भी ग्रहण करके 'ठक्' प्रत्यय हो जाता। वार्त्तिक पाठ व्यर्थ है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 945.
2. अष्टाध्यायी, 6/4/144.
3. वही, 6/3/134.
4. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 952.
5. अष्टाध्यायी, 4/4/41.

'ग्रहणवताप्रातिपदिकेन तदन्त विधिर्नास्ति'[1] इस परिभाषा से तदन्त विधि का निषेध होने से 'ठक्' असिद्ध [अप्राप्त] हो जाएगा। एतावता 'ठक्' विधान के लिए उक्त वार्त्तिक का पाठ किया गया है।

यद्यपि 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र में तदन्त विधि विधायक वार्तिक 'धर्मान्त्रञः' का पाठ है तथापि उसकी अनपेक्षा करके इस वार्त्तिक का प्रणयन किया गया है।

नाभि नभञ्च[2]

'उगवादिभ्यो यत्' सूत्र में 'गवादि गण' के अन्तरगत् 'गण' सूत्र के रूप में यह 'गण' सूत्र के रूप में यह 'गण' सूत्र पठित है। इसका अर्थ है - 'नाभि' शब्द 'प्रकृतिकचतुर्थ्यन्त सुबन्त' से 'हित' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होवे तथा 'नाभि' शब्द को 'नभ्' आदेश होवे। अतः 'नाभ्यैहितं नभ्यः अक्षः नभ्यं अञ्जनं' इत्यादि उदाहरण सम्पन्न हुए। रथ की 'नाभि' में ही यह वचन प्रवृत्त होता है क्योंकि 'शरीरावयवाद्यत्' यह सूत्र 'शरीरावयव भूत नाभि' में बाधक हो जाता है। उस सूत्र से 'नाभ्यमञ्जनं नाभ्यं तैलम्'।

---

1. तदन्तविधेः 'ग्रहणवताप्रातिपदिकेन' निषेधाद्वचनम्। येन विधिः इत्यत्र 'धर्मान्त०' इति वार्त्तिकमनपेक्षित युक्तम् [प्रदीप 4/4/41.

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 959.

पृथु-मृदु-भृश कृश-दृढ परिवृढानामेवरत्वम्[1]

'र ऋतो हलादेर्लघो:'[2] इस सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ने 'एव तर्हि परिगणनं क्रियते' यह कहकर उक्त परिगणन वार्त्तिक का उल्लेख किया है । उक्त सूत्र के विषय को 'परिगणन' इस वार्त्तिक में किया गया है । उक्त सूत्र में किया जाने वाला 'र' भाव 'पृथु' आदि शब्दों का ही होगा । जैसे - प्रथिमा, प्रदिमा इत्यादि । परिगणन से ही 'कृतमाचष्टे कृतयति' में 'र' भा नहीं होगा, नहीं तो 'कृतयति' में 'इष्ठवद्भाव' से 'रभाव प्रथयति' के सदृश होने लगता । इत्यादि विषय भाष्य में स्पष्ट किया गया है ।

गुण वचनेभ्यो मतुपोलुगिष्ट:[3]

'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'[4] सूत्र भाष्य में इस वार्त्तिक का पाठ है 'गुण' और 'तद्वान्' द्रव्य में अभिन्न रूप से लोक में 'प्रयुज्यमान शुक्लादि' शब्द ही यहाँ 'गुण' वचन शब्द से ग्रहण किए गए हैं न कि 'गुणमात्र वाची रूपादिको का ग्रहण होता है । अत: वार्त्तिक में वचन ग्रहण किया है । अत: उक्त निय

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम्, पृष्ठ 970.
2. अष्टाध्यायी, 6/4/161.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम् , पृष्ठ 986.
4. अष्टाध्यायी, 5/2/94.

व अर्थ बनता है । इसी से 'रूपवान घटः' इत्यादि स्थलों में 'मतुप्' का लोप नहीं है 'शुक्लः पटः' इत्यादि स्थलों में उत्पन्न 'मतुप्' का लोप इस वार्त्तिक से हो जाता है ।[1]

प्राण्याङ्गदेव[2]

'प्राणिस्थादातोलजन्यतरस्याम्'[3] इस सूत्र भाष्य 'प्राण्यङ्गदिति वक्तव्यम्' इस वार्त्तिक का उल्लेख किया गया है । उक्त सूत्र से 'प्राणिस्थ अङ्ग' से जो 'लच्' प्रत्यय विहित है वह प्राणी अङ्ग से ही हो । अतः 'मेधा चिकीर्षा' आदि से 'प्राणिस्थ' होने पर भी प्राणी के अङ्ग {अवयव} का अभाव होने से 'लच्' प्रत्यय नहीं होगा । 'मेधा अस्यास्तीति मेधावान् चिकीर्षावान्' यही रूप निष्पन्न होता है । 'चूडालः' इत्यादि से 'सदृश लच्' प्रत्यय नहीं होता । 'मेधा चिकीर्षादि' शब्दों से 'अनभिधानाल्लच्' नहीं होगा ऐसा मानकर भाष्यकार[4] ने 'प्राण्याङ्ग' ग्रहण को प्रत्याख्यात् कर दिया है ।

---

1. शुक्लादय एवाभिन्न रूपागुणे तद्वित द्रव्ये च वर्तमाना गृह्यन्ते, न तु रूपादयः सर्वथा गुण मात्र वाचिनः - प्रदीप 5/2/94.
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 187.
3. अष्टाध्यायी, 5/2/96.
4. तत्तर्हि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम् । कस्मान्न भवतिजिहीर्षा स्यास्तिचिकीर्षा स्यास्ति इति ? अनभिधानात् - महाभाष्य 5/2/96.

अन्येभ्यो पि दृश्यते[1]

'केशद्वो न्यतरस्याम्'[2] इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने भाष्य में 'व प्रकरणे मणि हिरण्याभ्यामुपसंख्यानम्' इस वार्त्तिक का उल्लेख करते हुए, ऐसा कहकर व प्रकरण में 'अन्येभ्यो पि दृश्यते' इस वचन का उपस्थापन किया है। पूर्व वचन की अपेक्षा इस उत्तर वचन को व्यापक मानकर वरदराज जी ने लघु सिद्धान्त कौमुदी में उत्तर वचन का पाठ किया है। इससे यथार्थ 'मतुप्' अर्थ में व प्रत्यय किया जाता है। जैसे - मणिवः मार्ग विशेष की संज्ञा, हिरण्यवः विधि विशेष की संज्ञा है। इसी प्रकार विम्बावम्, कुररावम् इत्यादि उदाहरण 'अभ्येभ्या पि दृश्यते' इस वार्त्तिक में भाष्यकार ने दिया है 'विम्बावम् कुररावम्' इत्यादि स्थलों में अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ होता है।

अर्णसो लोपश्च[3]

'केशद्वो न्यतरस्याम्'[4] सूत्र में ही वृत्तिकार ने इस वचन का उल्लेख किया गया है परन्तु महाभाष्य में इसका पाठ नहीं है। 'अर्णांसि जलानि

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 989.
2. अष्टाध्यायी, 5/2/109.

3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 989.
4. अष्टाध्यायी, 5/2/109.

सन्त्यस्य' इस विग्रह में प्रकृत वार्त्तिक से 'मतुवर्थक' व प्रत्यय, 'सकार' लोप करके 'अर्णवि:' की सिद्धि की जाती है ।

अन्येभ्यो पि दृश्यते[1]

'रज: कृष्णसुतिपरिषदोवलच्'[2] इस सूत्र भाष्य में इस वार्त्तिक का पाठ है सूत्रार्थ के अनुसार तथा तत्तद शब्दों से और अन्य शब्दों से भी 'मतुप्' अर्थ में 'वलच्' प्रत्यय होता है । भातृवल:, पुत्रवल: इत्यादि इस वार्त्तिक के उदाहरण है ।

दृशि ग्रहणात् भवदादि योग एव[3]

'इतराभ्यो पि दृश्यन्ते'[4] सूत्र भाष्य में यहाँ क्लच् नहीं होता है - र तौ, ते अतिव्याप्ति की आशंका करके 'भवदादि योग इति वक्तव्यम्' इस प्रक वार्त्तिक का उल्लेख किया गया है । भवदादि कौन है इस आकांक्षा में - 'भवाम् दीर्घायु: देनानां प्रियं: आयुष्मान् यह वाक्य उपस्थापित किया गया है

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 989.
2. अष्टाध्यायी, 5/2/112.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम् पृष्ठ 998.
4. अष्टाध्यायी, 5/3/14.

उक्त सूत्र से सप्तमी, पंचमी से 'इतर विभक्त्यान्तों' से भी 'त्रल्' 'तसिलादि' प्रत्ययों का विधान किया जाता है। वे सभी स्थलों में नहीं, प्रत्युत भवदादि योग में ही हों, यह व्यवस्था इस वार्त्तिक से की जाती है। अतः सः, तौ, ते' इत्यादि में 'भवदादि' का योग न होने से 'तसिलादि' नहीं होते। स भवान्, कुतोभवान्, तत्र भवान्, तं भवन्तं, तत्र भवन्तम्, इत्यादि स्थलों में 'प्रथमाधन्त' से भी 'त्रलादि' प्रत्यय होते हैं।

एतदो वाच्यः[1]

'एतदो म्'[2] इस सूत्र पर भाष्य में 'एतदश्चयम् उपसंख्यानम्' इस वार्तिक का पाठ किया गया है। 'एतद्' शब्द से 'थमु' प्रत्यय होता है। यह वार्तिक का अभिव्यक्त अर्थ है। 'इदमस्थमुः' इस सूत्र से कथित 'थमु' प्रत्यय इस वार्तिक से 'एतद' शब्द से किया जाता है। वह 'थमु' प्रत्यय प्रकार वचन में है। 'एतेन प्रकारेण इत्थम्' यहाँ 'एतद्' शब्द से 'थमु' प्रत्यय 'एतदोऽन्' इस सूत्र में 'एतदः' का योग विभाग करके 'एतद्' शब्द स्थान में 'इदादेश' करके 'इत्थम्' की निष्पत्ति की जाती है। भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि 'एतदोऽन्' इसमें 'एतदः' यह योग विभाग करके वहाँ पर 'एतेतौ रथोः'[3] पूर्व सूत्र की

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1001.
2. अष्टाध्यायी 5/3/5.

अनुवृत्ति करते हैं - 'रेफादि' और 'थकारादि प्राग्दीशीये प्रत्यय के 'परता एतद' शब्द को यथासंख्य 'एतइद' इस आदेश का विधान किया जाता है ।

'एतद' शब्द का 'व्यकारादि' प्रत्यय की 'परता इदादेश' विधान के सामर्थ्य से 'एतद' शब्द से 'थमु' प्रत्यय करके उपसंख्यानम् वार्त्तिक का प्रत्याख्यान भाष्यकार ने किया है ।

ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टे: प्रागक अन्यत्र च सुबन्तस्य[1]

'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टे:'[2] इस सूत्र के भाष्य में इस 'अकच्' के विषय में दो प्रकार के विकल्पों -'यह अकच् सुबन्त के टि के पहले हो या प्रातिपदिक के टि के पहले' के दोनों पक्ष में दोष कहकर 'सुबन्त' के 'टि' के पहले होने को व्यवस्थापित किया गया, किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था में युष्मकाभि: अस्मकाभि: युष्मकासु, अस्मकासु, युवकयो:, आवकयो: इन स्थलों में भी 'सुबन्त' के 'टि' के पहले 'अकच्' प्राप्त होगा और इष्ट प्रातिपदिक के 'टि' के पहले 'अकच्' करना है, ऐसी आशंका करके पर 'अनोकारसकारभकारादाविति वक्तव्यम्' इस रूप से समाधान किया गया । इसका अर्थ है - 'ओकारसकारभकारादि भव्य सुप्' परे रहते 'सुबन्त' के 'टि' के पहले 'अकच्' हो । फलितार्थ यह होता है कि 'ओकारसंकारभकारादिसुप्' परे रहते प्रातिपदिक के 'टि' के पहले 'अकच्' होता

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, प्रागवीय प्रकरणम्, पृष्ठ 1012.
2. अष्टाध्यायी 5/3/71-72.

है । इसी फलितार्थ को दीक्षितजी ने 'ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टे: प्रागकच्' इस रूप में लिखा है । अत: युष्मकाभि: इत्यादि उक्त उदाहरणों में प्रातिपदिकयुष्मद् इत्यादि के 'टि' के पूर्व 'अकच्' होता है । त्वयका, मयका, त्वयकि, मयकि, इत्यादि स्थलों में 'सुप्' के ओकारसकारभकारादि न होने के कारण 'सुवन्त' के पूर्व 'अकच्' होता है । यह व्यवस्था 'युष्मद् अस्मद्' के लिए ही है क्योंकि भाष्यकार ने 'युष्मद् अस्मद्' का ही उदाहरण दिया है । अन्य सर्वनामों के विषय में तो सर्वत्र प्रातिपदिक के टि के पूर्व 'अकच्' होगा' ऐसा उद्योत में स्पष्ट है ।[1]

सर्वप्रातिपदिकेभ्य: क्विव्वा वक्तव्य:[2]

• 'उपमानादाचारे' इस सूत्र के महाभाष्यकार ने सर्वप्रातिपादिकेभ्य: क्विब्वा वक्तव्य: इस वार्त्तिक का उल्लेख किया है । इसका अर्थ है 'उपमान वाची' सकल प्रातिपदिक से 'आचार' अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय विकल्प से होता है । इस वार्त्तिक में साक्षात् क्विप् शब्द का उल्लेख नहीं है अत: आचारे वगर्भ-क्लीबठोभ्यकिब वा वक्तव्य: - इस पूर्ण वार्त्तिक से 'क्विप्' का अनुवर्त्तन किया

---

1. सुबन्त के टि के पहले यह बात अस्मद्-युष्मद् विषयक ही है, अन्यत्र प्राति-पदिक के टि के पूर्व ऐसा जानना चाहिए । उदाहरणपरक भाष्य के प्रामाण्य से । - उद्योत 5/3/71-72.

2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृ0 1014.

जाता है । प्रातिपदिक ग्रहण करने से 'सुप् आत्मन: क्यच्' सूत्र से 'सुप:' का सम्बन्ध नहीं होता । अत: 'कृष्ण इव आचरति कृष्णति' इत्यादि प्रयोगों में 'कृष्ण' शब्द का 'अकार अपदान्त' रहता है इसीलिए 'शाक्य अकार' के साथ 'अकोगुणे' सूत्र से पद रूप होता है तथा 'राजा इव आचरति राजानति' प्रयोग में न लोप नहीं होता है । अन्यथा 'कृष्णति' यहाँ 'कृष्णाति' तथा 'राजानति' के स्थान पर 'राजाति' यह प्रयोग हो जाता । इस प्रकार भाष्यकार प्रदीपकार तथा तत्त्वबोधिनीकारादि आचार्यों ने इसका व्याख्यान किया ।

आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्[1]

'प्रतियोगे प चम्यास्तसि:'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । 'आद्यादि से 'स्वार्थ' में 'तसि' प्रत्यय हो' यह इसका अर्थ है । यह 'तसि' प्रत्यय सर्वविभक्त्यन्त से होता है क्यों कि 'तस्यादित[3] उदात्तमर्धह्रस्वम्' यह निर्देश इसके सर्वविभक्त्यन्त से होने में प्रमाण है । आधादिगण के आकृतिगण होने के कारण 'आदाविति' अर्थात् 'आदि में' इस अर्थ में 'आदित:' बनेगा । इसी प्रकार मध्यत:, अन्तत: भी जानना चाहिए । स्वरेण स्वरत: अर्थात् 'स्वर से' इस अर्थ में 'तसि' हुआ, 'वर्णेन' वर्णत: इत्यादि स्थलों में वर्ण से इस इत्यादि में तृतीयान्त से 'तसि' हुआ है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम्, पृष्ठ 1017.
2. अष्टाध्यायी 5/4/44.
3. वही, 1/2/32.

अभूत तद्भावं इति वक्तव्यम्[1]

'अभूततद्भावेकृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'च्विविधायभूततद्भाव ग्रहणम्' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । वृत्तिकार ने उक्त सूत्र को ही 'अभूततद्भावघटित' पढ़ दिया है । उक्त सूत्र से 'कृ भू अस्' के योग में सम्पद्यमान कर्त्ता अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय होता है और वह 'अभूततद्भाव' अर्थ गम्यमान रहने पर ही होता है, अन्यथा नहीं यह वार्त्तिक का अर्थ है । अतः 'यवाः सम्पद्यन्ते' शालयः सम्पद्यन्ते (यव सम्पन्न होते हैं, शालि सम्पन्न होते हैं) इत्यादि स्थल में 'च्वि' प्रत्यय नहीं हुआ ऐसा भाष्य में स्पष्ट है । 'अभूततद्भावे' इस शब्द में 'तेन भावः' तद्भावः यह तृतीया समास है ।

• अतः जिस रूप से पहले हुआ उस रूप से उसका भाव ऐसा फलितार्थ हुआ प्रकृति के विकारात्मकता को प्राप्त होने पर ऐसा अर्थ निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है । विकारावस्था से पूर्व विकारात्मिका न हुई प्रकृति का विकारावस्था में विकारात्मिका होना यही 'पूर्वो अभूतद्भाव' है । जैसा कि वार्त्तिक भी किया गया है 'प्रकृतिविवक्षा ग्रहणं च' जब प्रकृति ही पहले विकारात्मिका न हुई हो तथा विकारात्मकता को प्राप्त हो, विकारात्मा होती हुई, भवनक्रिया की कर्त्री हो तब 'च्वि' प्रत्यय होता है ऐसा वार्त्तिकार्थ है । अतः 'इस क्षेत्र में 'यव' सम्पद्यमान होते हैं । इस अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय नहीं हुआ ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम्, पृष्ठ 1017.
2. अष्टाध्यायी 5/4/50.

'अभूततद्भावपद' की उपर्युक्त व्याख्या से ही इस वार्त्तिकार्थ का 'अभूततद्ग्रहण' से लाभ हुआ है । 'प्रकृतिविवक्षाग्रहण चेति' यह वार्त्तिक अभूततद्भाव का ही व्याख्येयायक है । प्रदीप में यह स्पष्ट है । अत: 'अंकुरीभवन्ति यवा:' इत्यादि स्थल में जहाँ प्रकृति की विकारात्मता प्रतिग्रमामानता गम्यमान हो वहीं पर च्वि प्रत्यय होता है । यहाँ पर अंकुरस्वरूप से पूर्व में अविद्यमान यवों का अङ्कुर रूप में होना ही 'अभूततद्भाव' है । 'भवन्ति यवा: क्षेत्रे' यहाँ पर पूर्वोक्त प्रकार का 'अभूततद्भाव' न होने के कारण 'च्वि' प्रत्यय नहीं होता है ।

अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्[1]

'अव्ययीभावश्च'[2] इससूत्र के भाष्य से यह वार्त्तिक उपलब्ध होता है । वहाँ पर कहा गया है कि 'अकार' को 'ईत्व' विधान 'च्वि'[3] के परे, 'अव्यय' में प्रतिषेध करना चाहिए । दोषाभूतमह:', दिवाभूताराति: इसके लिए । वह यहाँ भी प्राप्त हो रहा है । 'उपकुम्भीभूतम्' 'उपमणिकी भूतम्' ऐसा कहा गया । अकार को जो ईत्व है वह अव्यय को न हो, अत: 'दोषाभूतमह:' 'दिवाभूतारात्रि:' इत्यादि स्थलों में दोषा एवं दिवा इनके अकार को ईत्व नहीं हुआ ।

---

1 लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रकरणम्, पृष्ठ 1018.

2. अष्टाध्यायी, 1/1/41.

3. महाभाष्य, 1/1/41.

डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्[1]

'प्रकारे गुणवचनस्य' इस सूत्र के भाष्य में 'डाचि च' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। यहाँ 'डाचि' में जो सप्तमी है वह विषयरूप अर्थ में है। उसी के फलितार्थ को श्री भट्टोजि दीक्षित जी ने सिद्धान्त कौमुदी में 'डाचि विवक्षिते' ऐसा कहा अर्थात् 'डाच्' की विवक्षा में लघुसिद्धान्तकौमुदीकार ने भी उक्त वार्त्तिक का श्रीदीक्षितवत् ही ग्रहण किया है। अतः 'डाच्' की उत्पत्ति से पूर्व ही 'डाच्' की प्रकृति 'पटत्' इत्यादि से इस वार्त्तिक के द्वारा द्वित्व हो जाता है तदनन्तर 'अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्'[3] इससे 'डाच्' होता है। 'डाचि यहाँ परसप्तमी मानने पर तो 'डाच्' करने के पश्चात् द्वित्व होगा। द्वित्व करने पर 'द्व्यजवरार्धः' की प्राप्ति होगी अतः 'अन्योन्याश्रयः' हो जायेगा। यह वार्त्तिक पदमञ्जरी एवं तत्त्वबोधिनीमें पूर्वोक्त में भलीभाँति स्पष्ट किया गया है।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1021.

2. अष्टाध्यायी, 8/2/12.

3. वही, 5/4/57.

नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्[1]

'नाम्रेडितान्त्यस्य तु वा' इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पठित है। वृत्तिकार ने तो पाठ में ही इसका प्रक्षेप कर दिया है । 'डाच्' से पर जो 'आम्रेडितं' उसके परे रहते अव्यक्तानुकरण का जो 'अचे शब्द' उसके 'अन्त्य' तथा पर जो 'आम्रेडित तदादिभूत वर्ण' उन पूर्वपर के स्थान में 'पररूप एकादेश'होता है, यह इसका अर्थ है । जैसे पटपटाकरोति । यहाँ 'पटत्' इस अव्यक्तानुकरण से 'डाच्' की विवक्षा करने पर 'डाचि च' इस वार्त्तिक के द्वारा "द्वित्वं", तदनन्तर 'अव्यक्तानुकरणं से' अव्यक्तकरणा द्वयजवरार्धादीनितौडाच' इस सूत्र के द्वारा 'डाच्' परे रहते 'द्वित्व' से 'टिलोप' करने पर 'पटत्पटा' इस स्थिति में द्वितीय 'पटत्' के 'डाच्' के 'आम्रेडित' होने के कारण 'पटत्' के 'तकार' 'तदादि पकार' के स्थान में 'पररूप' (पकार) इस वार्त्तिक के द्वारा विधान किया गया है । यहाँ पर भी डाच् की विवक्षा में ही 'द्वित्व' होगा न कि 'डाच्' पर में रहते । यदि 'डाच्' पर में, रहते ऐसा अर्थ मानेंगे, तो 'डाच्' परे रहते 'द्वित्व से' पहले अन्तरङ्ग होने के कारण 'टिलोप' हो जायेगा तदनन्तर 'द्वित्व' होगा अतः 'टान्त' को ही 'द्वित्व' होगा इस प्रकार से 'पटपटा' की सिद्धि नहीं होगी । अतः 'डाचि च' में सप्तमी "विषय सप्तमी" ही जानना चाहिए ।

---------::0::-------

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, तद्धित प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1021.

अष्टम् प्रकरणम्

स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्

नञ्स्नञीकक्ख्युस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्[1]

'टिड्ढाणञ्द्वयसजदघ्न मात्रच्तयपठकठञ्कञक्करपः'[2] इस सूत्र के भाष्य में 'ख्युन उपसंख्यानम्' यह वार्त्तिक है। इस वार्त्तिक को लक्ष्य करके भाष्यकार ने कहा - 'ख्युन उपसंख्यानम्' यह अत्यल्प है, 'नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुउपसंख्यानम्' इतना कहना चाहिए। पूर्वोक्त वार्त्तिक 'ख्युन उपसंख्यातम्' का ही पूरक यह भाष्य है। वार्त्तिकपूरक होने के कारण भाष्यवाक्य को ही श्री भट्टोजिदीक्षित जी ने सिद्धान्तकौमुदी में वार्त्तिक के रूप में पढ़ दिया जिसका उसी रूप में लघु सिद्धान्त कौमुदीकार ने भी उल्लेख किया है। यह नञ्, स्नञ् ईकक्, ख्युन् इन प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से तथा 'तरुण' एवं 'तलुन' शब्दों से 'स्त्रीत्व धोत्य' होने पर 'ङीप' विधान करता है। 'नञ्, स्नञ्' का उदाहरण है, 'स्त्रैणी, पौंस्नी, स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इससे स्त्री शब्द एवं पुंस शब्द से क्रमशः नञ् एवं स्नञ् प्रत्यय हुए हैं, ञित होने से आदिवृद्धि हुई है। ईकक् का उदाहरण - शाक्तीकी यहाँ 'तदस्य प्रहरणम्' इस सूत्र के अधिकार में 'शक्तियष्ट्योरीकक्' इससे ईकक् प्रत्यय आदिवृद्धि। शाक्तीकः का अर्थ है शक्ति प्रहरण है जिसकी 'ख्युन' का उदाहरण है - आढ्यकरणी। इसका विग्रह है - अनाढ्यं आढ्यं कुर्वन्ति अनया। 'आढ्यसुभगस्थूल' इस सूत्र से 'आढ्य' शब्द उप पद रहते 'कृञ् धातु' से 'ख्युन प्रत्यये' 'यु' को अनादेश, 'खित्' होने से पूर्वपद

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1027.

2. अष्टाध्यायी 4/1/15.

इसका अर्थ है 'चतुरनडुह' शब्द को स्त्रीलिङ्ग में 'आम्' होता है । अनडुह' का उदाहरण - अनुडुही, अनड्वाही । 'अनुडुह' शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में 'षिद्-गौरादिभ्यश्च' इससे 'गौरादित्वात् डीप् प्रत्यय' तथा उक्त वार्त्तिक से विकल्प से 'आम्' । आम् पक्ष में अनड्वाही, आमभावपक्ष में अनुडुही ये दो प्रयोग बनते हैं । 'गौरादिगण' में अनडुही, अनड्वाही ये दोनों 'आमसहित, आमरहित पठित होंगे, उनके बल से ही यह 'आम्' विकल्प' विहित हो जायेगा, उसके लिए 'आम-नडुह: स्त्रियां वा' इस अपूर्ववचन की आवश्यकता नहीं है । ऐसा न्यासकार[1] का कथन है । 'गौरादिगण' में 'अनुडुह' इस प्रातिपदिक मात्र का पाठ ही आर्ष है । अनुडुही, अनड्वाही' यह पाठ अर्वाचीन है ऐसा कैयट ने कहा ।

पालकान्तान्न[2]

'पुंयोगादाख्यायाम्'[3] इस सूत्र के भाष्य में 'गोपालिकादीनां प्रतिषेध:' यह वार्त्तिक पठित है । जिसका अर्थ है 'गोपालिका' इत्यादि में पुंयोगादा-ख्यायाम्' से 'ङीष्' नहीं होता । अत: 'गोपालकस्य' स्त्री 'गोपालिका' यही होता है यहाँ 'ङीप्' नहीं होता । 'गोपालिकादीनाम्' में 'आदिशब्द' प्रकारवाची है । प्रकार का अर्थ है सादृश्य वह सादृश्य 'पालकान्तत्वेन' ग्राह्य

---

1. यही वचन ज्ञापक है कि अनडुह शब्द से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से आम् होता है - न्यासकार ।
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1034.
3. अष्टाध्यायी 4/1/48.

है । अतः 'पालकान्त गोपालिका' के सदृश 'पशुपालिका' इत्यादि स्थल में ङीष्' होता है । इसी अभिप्राय के लघु सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'पालकान्तान्न' यह वार्त्तिक का स्वरूप दिया है । भाष्यदृष्टि से यह वार्त्तिक वाचनिक है । न्यासकार के अनुसार 'वोतोगुणवचनात्' से 'वा' की अनुवृत्ति कर 'व्यवस्थितविभाषाश्रयण' से यह साधित है ।

सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः[1]

'पुंयोगादाख्यायाम्'[2] इस सूत्र में 'सूर्याद्देवतायां चाब्वक्तव्यः' यह भाष्यवाक्य है । यह वचन उक्त सूत्र से प्राप्त 'ङीष्' प्रत्यय को बाधकर 'पुंयोग' में 'चाप्' का विधान करता है । यह 'चाप्' देवता वाच्य' रहने पर ही होता है । इसका उदाहरण है सूर्य की स्त्री देवता सूर्या । देवता कहने से फल यह हुआ कि जहाँ सूर्य की स्त्री 'मानुषी' है वहाँ 'ङीष्' होगा । जैसे सूर्य की स्त्री सूरी, कुन्ती । यहाँ सूर्यशब्द से 'ङीष्' प्रत्यय है एवं 'सूर्यतिष्यागस्त्य' इससे यलोप किया गया है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'सूर्याद्देवतायां न' ऐसा ही वार्त्तिक का विधान क्यों नहीं किया क्योंकि जब इस वार्त्तिक से 'ङीष्' का प्रतिषेध हो जायेगा तो 'अदन्तलक्षण टाप्' प्रत्यय करके भी सूर्या बन ही जायेगा 'चाप्' का विधान का तथा फल है ? इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि अन्तोदात्त

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1035.
2. अष्टाध्यायी 4/1/8.

करने के लिए 'चाप्' प्रत्यय का विधान है। 'टाप्' करने पर सूर्यशब्द का आद्यु-दात्त होने से 'टाप् पित्' होने से अनुदात्त है अत: आद्युदात्त ही बना रहेगा 'चाप्'• विधान करने से सूर्या इसका अन्तोदात्त होगा 'चित:' सूत्र के द्वारा, जो इष्ट भी है। यह 'चाप्' विधि वाचनिक है।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ड्याम् च[1]

पुंयोगादाख्यायाम्'[2] इस सूत्र के भाष्य में पूर्वोक्त वार्त्तिक के पश्चात् 'सूर्यागस्त्ययोश्छे च' इस वार्त्तिक का पाठ है। यहाँ 'चकार' के द्वारा 'ड्याम्' का सम्बन्ध होता है। उसी का फलितांश कथन सिद्धान्तकौमुदी में वार्त्तिक में जोड़ दिया गया है। जिसे आचार्य वरदराज ने भी यथावत् ग्रहण किया है। सूर्य एवं अगस्त्य शब्द के 'यकार' का लोप छ: एवं 'ङी' परे रहते ही होता है अन्यत्र नहीं। सौरी सौरीय:, आगस्ती आगस्तीय: ये इसके उदाहरण हैं। 'सौरी' इस प्रयोग में 'सूर्येण एक दिक्' इस अर्थ में 'तेनैक दिक्' इस सूत्र के द्वारा 'अण्' प्रत्यय 'यस्येति च' इससे लोप तदनन्तर 'ङीप्' उक्त वार्त्तिक से यलोप, अण् के 'अकार' का 'यस्येति च' के द्वारा लोप। 'सौरीय:' यहाँ अण्णन्त सौर्य शब्द से 'वृद्धाच्छ:' इस सूत्र के द्वारा 'छ' प्रत्यय पूर्वोक्त वार्त्तिक से यलोप। आगस्तीय: इस स्थल में अगस्त्य शब्द से इदमर्थ में अण् प्रत्यय, तदनन्तर वृद्धाच्छ:

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1036.
2. अष्टाध्यायी 4/1/18.

से 'छ' प्रत्यय शेष पूर्ववत् । परिगणन कर देने के कारण यहाँ यलोप नहीं होता-सूर्यस्यायं सौर्यः, अगस्तस्यायं आगस्त्यः । परिगणनाभाव में 'छ' की तरह 'अणादि' में भी 'यलोप' हो जाता क्योंकि 'तद्धित' की अनुवृत्ति आने से तद्धित मात्र में यलोप प्राप्ति होती ।

हिमारण्ययोर्महत्त्वे[1]

'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । यह वार्त्तिक 'इन्द्रवरुण' इत्यादि सूत्र से विहित 'ङीष्' और 'आनुक्' की विषय व्यवस्था के लिए है । इसी प्रकार इसके बाद के भी वार्त्तिक पूर्वोक्त विषय व्यवस्थार्थ हैं । महत्त्व से युक्त 'हिमादि' स्त्रीलिङ्ग से अभिसम्बद्ध होते हैं जब जब स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' एवं 'आनुक्' होते हैं, यह वार्त्तिक का अर्थ है । यह न्यास में स्पष्ट है । महत्त्वयोगे में ही 'हिम एवं अरण्य का स्त्रीत्व से अभिसम्बन्ध होता है । महत्त्व की अविवक्षा में इन दोनों में 'नपुंसकलिङ्ग' ही होता है अतः महत्त्व के योगाभाव में स्त्रीत्वविवक्षा में हिम एवं अरण्य शब्द से 'टाप्' हो जाये ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए । महत्त्वविवक्षा में स्त्रीत्व नियत होने के कारण 'ङीष्' एवं 'आनुक्' नियतरूप से होते हैं । महद्स्त्रिम्' इस अर्थ में 'हिमानी'

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1037.

2. अष्टाध्यायी 4/1/49.

'महद् अरण्यम्' इस अर्थ में अरण्यानी ऐसा प्रयोग है । 'महद्हिमं' इस वाक्य में हिम में महत्त्वयोग होने पर भी हिमशब्द से 'ङीष्' आनुक्' नहीं होता क्योंकि इस वाक्य में 'महत्' शब्द के द्वारा ही महत्त्व उक्त होने से 'उक्तार्थानामप्रयोग इस न्याय से 'ङीष् आनुक्' नहीं होते क्योंकि महत्त्व के बोधन के लिए ही 'ङी एवं 'आनुक्' का प्रयोग होता है ।

यवाद्दोषे[1]

'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्'[2] सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक भी पठित है । यव शब्द से 'दोष गम्यमान' रहने पर स्त्री लिङ्ग में 'ङीष्' एवं 'आनुक्' होता है । यह वार्त्तिक भी 'इन्द्रवरुण-भवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' सूत्र की ही विषयव्यवस्था का निर्देश करता है । इसका उदाहरण है -'दुष्टो यवो यवानी' ।

यवनाल्लिप्याम्[3]

यह वार्त्तिक 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् सूत्र भाष्य में ही पठित है । 'यवन' शब्द से लिपिरूप अर्थ में 'ङीष्' होता है ।

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम् , पृष्ठ 1037.
2. अष्टाध्यायी, 4/1/49.
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम् , पृष्ठ 1037.
4. अष्टाध्यायी, 4/1/49.

उसके सन्नियोग से 'यवन' शब्द को 'आनुक्' का 'आगम' भी होता है। 'यवनाना' लिपिर्यवनानी अर्थात् यवनों की लिपि यवनानी कहलाती है। यवन शब्द से लिपि अर्थ में 'तस्येदम्' से प्राप्त 'अण्' ङीष्' प्रत्यय के द्वारा बाधित होता है.। अतएव 'यवनानां' (यवनों का) इस अर्थ में 'इदन्त्वेन लिपि' की विवक्षा करने पर यावनी यह प्रयोग असाधु ही है। हिम, अरण्य, यव शब्दों से यद्यपि पुंयोग-लक्षण ङीष् असम्भव है तथापि यवन् शब्द से पुंयोगलक्षण 'ङीष्' सम्भव है लेकिन यहाँ मात्र ङीष्' मात्र होकर यवनी ही बनेगा 'अलुक्विषय' के परिगण होने से यहाँ लिपि अर्थ में ही 'आनुक्' होगा।

मातुलोपाध्यायोरानुग्वा[1]

• 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्'[2] सूत्र के भाष्य में ही 'उपाध्याय मातुलाभ्यां वा' यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। मातुल शब्द से इन्द्रवरुण इस सूत्र के द्वारा नित्य आनुक् प्राप्त होने पर उपाध्याय शब्द से प्राप्त न होने के कारण दोनों स्थलों में इस वार्त्तिक से 'आनुक्' का विकल्प से विधान किया जाता है। ङीष्' तो 'पुंयोगादाख्यायाम्' से नित्य ही होगा। इस प्रकार यह वार्त्तिक 'आनुक्' का ही विकल्प विधान करता है। 'ङीष्' का विकल्प नहीं। इसीलिए भाष्यकार ने उपाध्यायी, उपाध्यानी,

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय, प्रकरणम्, पृष्ठ 1038.
2. अष्टाध्यायी, 4/1/49.

मातुली, मातुलानी, इत्यादि उदाहरण दिये । आनुक् के अभाव में भी मातुली इत्यादि में ङीष् दिखाया है । भाष्यकार ने यदि यह ङीष् का भी विकल्प विधानै करता तो जिस प्रकार 'आनुक्' विकल्प से है, वैसे ही 'ङीष्' के विकल्प होने पर 'उपाध्याया' मातुला' यह टाबन्त का उदाहरण ही भाष्यकार के द्वारा दिये गये होते । यहाँ जो 'ङीष्' एवं 'आनुक्' है वे दोनों ही 'पुंयोग' में ही जानना चाहिए । क्योंकि 'पुंयोगादाख्यायाम्' इसी सूत्र से यहाँ 'ङीष्' होता है । 'आनुक्' विधायक 'इन्द्रवरुण' इसमें 'पुंयोग' की अनुवृत्ति होने से यदि बाधक न हो तो 'पुंयोग' में ही 'आनुक्' भी होता है ।

आचार्यादणत्व च[1]

'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है । आचार्य शब्द से 'पुंयोगादाख्यायाम्' से 'ङीष्' उसके सन्नियोग से 'इन्द्रवरुण' इस सूत्र से आचार्य शब्द को आनुक् का आगम विधान किया जाता है । आनुक् के नकार को 'अट्कुप्वाङ्' इस सूत्र से प्राप्त णत्त्व का इस वार्त्तिक से निषेध किया जाता है । उदाहरण - आचार्यस्य स्त्री (आचार्य की स्त्री) आचार्यानी । यह वार्त्तिक केवल णत्त्व का निषेध ही करता है । ङीष् एवं आनुक् तो 'पुंयोगादाख्यायाम्' तथा 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' इस सूत्र से ही सिद्ध है । क्षुभ्नादिगण

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1238.
2. अष्टाध्यायी 4/1/49.

में आचार्यानी शब्द का पाठ होने के कारण यह वार्त्तिक गतार्थ है अत: इस वार्त्तिक की आवश्यकता नहीं है ऐसा न्यास एवं पदमञ्जरीकार ने लिखा है। चूँकि वार्त्तिक है अत: आचार्यानी शब्द का पाठ क्षुभादिगण में नहीं माना जा सकता अन्यथा वार्त्तिक का ही उत्थान सम्भव नहीं हो सकेगा।

अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे[1]

'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पठित है। अर्य एवं क्षत्रिय शब्द से ङीष् एवं आनुक् का आगम विकल्प से होता है। यह वार्त्तिक का अर्थ है। इस प्रकार वार्त्तिक अप्राप्त ङीष्, आनुक् इन दोनों का विकल्प विधायक है। इसका उदाहरण, अर्या, अर्याणी, क्षत्रिया, क्षत्रियाणी यह भाष्य में कहा गया है। यहाँ ङीष् एवं आनुक् के अभाव पक्ष में अर्या के उदाहरण दिये जाने से प्रतीत होता है कि यह वार्त्तिक स्वार्थ में ही प्रवृत्त होता है पुंयोग में नहीं। यदि पुंयोग में ही इसकी प्रवृत्ति होती तो इस वार्त्तिक के अभाव पक्ष में जैसे 'उपाध्याय मातुलाभ्यां वा' इस वार्त्तिक के उदाहरण प्रसङ्ग में अनुगाभावपक्ष में उपाध्यायी यह पुंयोग में ही ङीषन्त का उदाहरण दिया, उसी प्रकार अर्यी, क्षत्रियी ऐसा पुंयोग ङीषन्त का ही उदाहरण देते भाष्यकार, न कि अर्या, क्षत्रिया ऐसा टाबन्-

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1039.
2. अष्टाध्यायी 4/1/49.

स्वार्थ में इस वार्त्तिक को स्वीकार करने पर इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति के अभाव-पक्ष में अर्यक्षत्रिय इन स्वार्थपर शब्दों से किसी से भी ङीष् न प्राप्त होने से टाप् होता है । ऐसा उद्योत एवं लघुशब्देन्दुशेखर में स्पष्ट है । वृत्तिन्यासपदम जरी-कारों को भी यही पक्ष अभिमत है । इसी अभिप्राय से सिद्धान्तकौमुदी में श्री भट्टोजिदीक्षित ने स्वार्थपद घटित वार्त्तिक पढ़ा है । इसी आशय से अप्राप्त ङीष् एवं आनुक् का यह विकल्प विधान करता है, क्योंकि पुंयोग में ङीष् प्राप्त होने पर भी स्वार्थ में ङीष् अप्राप्त ही है । पुंयोग में तो 'पुंयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र से नित्य ङीष् होगा । निष्कर्षत: जो स्वयं अर्यत्वविशिष्ट क्षत्रिय की भी स्त्री हो तब भी अर्यी, क्षत्रियी ऐसा रूप बनेगा ।

- <u>योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेध:</u>[1]

'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्'[2] इस सूत्र के भाष्य में यह वार्त्तिक पठित है । इस सूत्र में अयोपध के कथन से यकारोपधकप्रातिपदिकों से जो सूत्र के अन्य निमित्तों पूरा भी करते हैं । उनसे ङीष् का विधान नहीं होता । अत: इस वार्त्तिक के द्वारा वार्त्तिकगत 'हय, गवय, मुकय, मत्स्य इत्यादि शब्द जो 'योपध' है उनसे भी 'ङीष्' का विधान किया जाता है । उदाहरणार्थ हयी, गवयी, मुकयी, मत्सी । 'मनुषी' यहाँ 'हलस्तद्धितस्य'[3] इस सूत्र के द्वारा मनुष्य-

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रकरणम् , पृष्ठ 1036.
2. अष्टाध्यायी, 4/1/63.
3. वही, 6/4/150.

घटक 'यकार' का लोप होता है । 'मनुष्य' शब्द 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' इस सूत्र के द्वारा तद्धित प्रत्ययान्त है, मत्सी शब्द 'मत्स्यस्य ङ्याम्'[1] से यलोप करने पर बना है । यद्यपि गौरादिगण में इन वार्त्तिकों से सिद्ध सभी शब्द 'गौरादिगण' में पठित मिलते हैं, फिर भी 'गौरादिगण' में इन शब्दों का पाठ अनार्ष (आधुनिक) है ऐसा इन वार्त्तिकों की सत्ता से प्रतीत होता है । अन्यथा 'गौरादित्वात्' ही 'ङीष्' सिद्ध होने से उसके करने के लिए इस वार्त्तिक का अनुत्थान ही होता । ऐसा प्रदीप एवं मञ्जरी में स्पष्ट है । यह वार्त्तिक भाष्य की दृष्टि से वाचनिक है । न्यासकार ने 'पापकर्ण' इत्यादि सूत्र के अनन्तर 'अनुक्त समुच्चयार्थ' से 'चकार' के द्वारा इस वार्त्तिक में कहे गये 'हयादिकों' का संग्रह हो सकता है और उसी से 'ङीष्' भी सिद्ध है । अतः यह वार्त्तिक गतार्थ है ।

मत्स्यस्य ङ्याम्[2]

'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः'[3] इस सूत्र के भाष्य में 'सूर्यमत्स्ययोर्ङ्याम्' यह वार्त्तिक पठित है । सूर्यशब्द का उत्तर वार्त्तिक में भी ग्रहण होने के कारण वहाँ 'चकार' के बल से 'ङ्याम्' इस पद की अनुवृत्ति करने से 'सूर्यस्य ङ्याम्' यह अर्थ उत्तर वार्त्तिक से गतार्थ हो जाने के कारण

---

1. कात्यायन वार्त्तिकम् ।
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1036.
3. अष्टाध्यायी, 6/4/49.

भट्टोजिदीक्षित ने 'मत्स्यस्यङ्याम्' ऐसा ही पाठ किया है । वार्त्तिक का यही स्वरूप आचार्य वरदराज ने भी स्वीकार किया है । वार्त्तिककार ने अर्थ के प्रदर्शन के लिए लाघव का अनादर करते हुए पूर्ववार्त्तिक में भी सूर्य शब्द का ग्रहण किया । प्रदीप में यह स्पष्ट रूप से व्याख्यात है । इस वार्त्तिक से तथा अन्य वक्ष्यमाण वार्त्तिक से 'सूर्यतिष्यागस्त्य' इस सूत्र से विहित लोपविष का परिगणन किया जाता है । 'सूर्यतिष्य' इस सूत्र में 'भस्य' तद्धिते, ङ्याति' इतने पदों की अनुवृत्ति होती है अतः इसका अर्थ होता है सूर्यादि के उपधाभू यकार का लोप होता है ईकार तद्धित परे रहते । यह 'यलोप' परिगणित-विषय से अन्यत्र न हो अतः इन वार्त्तिकों का आरम्भ है । इनमें इस वार्ति का ॥ 'मत्स्यस्य ङ्याम्' ॥ अर्थ है - 'मत्स्यशब्द ' के 'उपधाभूत यकार' का 'ङी' परे रहते ही हो, अन्यत्र नहीं । उदाहरण है 'मत्सी' । मत्स्य शब्द 'गौरादित्वात्' ङीष्' तदनन्तर इस वार्त्तिक से 'यलोप' । परिगणन कर दे से 'मत्स्यस्यायं' इस अर्थ में 'मात्स्यः इस प्रयोग में 'यलोप' नहीं होता है

श्वसुरस्योकाराकारलोपश्च[1]

'पड्गोश्च'[2] इस सूत्र में यह वार्त्तिक वार्त्तिकार ने पढ़ा है परन्तु भाष्य में यह उपलब्ध नहीं होता । इस वार्त्तिक से 'श्वसुर' शब्द से पुंयोग

---

1. लघु सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्, पृष्ठ 1038.
2. अष्टाध्यायी, 4/1/68.

'अङ्' का विधान तथा श्वसुर शब्द के 'उकार' एवं 'अकार' का लोप विधान करता है । यह जो 'अकार' के लोप का विधान है वह सन्निहित होने से 'अन्त्य अकार" का ही लोप होगा 'आद्य अकार' का नहीं । अतएव 'श्वसुरः श्वश्र्वा' यह निर्देश सङ्गत होता है । इसका उदाहरण है - श्वसुर की स्त्री [श्वसुरः स्त्री] 'श्वश्रूः' । 'श्वसुर' शब्द से 'ऊङ्' करने पर 'अन्त्य अकार' का तथा 'मध्य उकार' का लोप करने पर 'श्वश्रूः' यह प्रयोग बनता है । 'ऊङन्त' श्वश्रू शब्द यद्यपि अप्रातिपदिक है तथापि 'श्वसुरः श्वश्र्वा' इस निर्देश से विभक्त्यादि की उत्पत्ति हो जायेगी ऐसा हरदत्त[1] का मत है । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्ग-विशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इसके द्वारा भी विभक्त्यादि कार्य हो जायेंगे ऐसा भी समाधान किया जाता है ।

वस्तुतः यह वार्त्तिक अपूर्ववचन नहीं है तथापि 'श्वसुरः श्वश्र्वा' इस निर्देश से सिद्ध अर्थ का अनुवादमात्र ही है । ऐसा न्यास[2] एवं मनोरमा[3] में स्पष्ट उल्लेख है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इस सूत्र के भाष्य से यह प्रतीत होता है कि

---

1. 'श्वशुरः श्वश्र्वा' इत्यादिनिपातनाद्विभक्त्यादिप्रातिपदिककार्यं भवति ।
पदमञ्जरी, 4/1/68.

2. अयं तु 'श्वशुरः श्वश्र्वा' इतिनियतनादेव सिद्धइति न वक्तव्यः ।
न्यास, 4/1/68.

3. एतच्च 'श्वशुर श्वश्र्वा' इति निर्देश सिद्धार्थकथमपरम् ।
प्रौढ मनोरमा, स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।